मीडियम समयसार

भाग–1

(गाथा 19 से 38 तक की टीका)

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टडैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

मीडियम समयसार भाग–1 : विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

● **प्रथम संस्करण** : 1 हजार
(3 मई, 2022)
अक्षय तृतीया

● **E-book प्रथम संस्करण**
(30 जनवरी, 2022)

मूल्य : **आठ रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए–4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर
60 पूनम विहार
जगतपुरा, जयपुर

विषय–सूची

1.	मीडियम समयसार की विषय वस्तु	1
2.	गाथा 19	6
3.	तात्पर्य वृत्ति गाथा 4	10
4.	तात्पर्य वृत्ति गाथा 5	11
5.	गाथा 20–22	13
6.	गाथा 23	16
7.	गाथा 24–25	18
8.	गाथा 26	20
9.	गाथा 27	22
10.	गाथा 28	24
11.	गाथा 29	25
12.	गाथा 30	26
13.	गाथा 31	28
14.	गाथा 32	38
15.	गाथा 33	41
16.	गाथा 34	46
17.	गाथा 35	48
18.	गाथा 36	51
19.	गाथा 37	54
20.	गाथा 38	57

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'मीडियम समयसार भाग–1' की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं – कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी–बड़ी 52 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जिनकी सूची आगे प्रकाशित की गई है।

साथ–ही–साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ–साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार–पीट से नहीं, ज्ञान–ध्यान से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान–ध्यान करने की प्रेरणा मिलती है।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल–सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ–साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न–भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन–जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में विदुषी लेखिका ने विषयवस्तु के अनुसार गाथाओं का विभाजन और नामकरण किया है। चूँकि इन 20 गाथाओं में अनादिकालीन अज्ञानी के ज्ञानी होने तक की विधि का खूबसूरती से चित्रण किया गया है, अत: इसे डॉ. टड़ैया ने **'सफर अज्ञानी से ज्ञानी तक का'** कहा है।

सम्पूर्ण समयसार को छोटे-छोटे पड़ावों में विभाजित कर सरल-संक्षिप्त भाषा में प्रस्तुत करने का लेखिका का यह प्रयास समयसार को अबाल-गोपाल का विषय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार का जन-जन में प्रचार-प्रसार हो - इसी भावना से प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसलजी का बहुत आभार है।

-परमात्मप्रकाश भारिल्ल
कार्यकारी महामंत्री

अपनी बात

जिसप्रकार 'मिनी समयसार' में विषयवस्तु के आधार पर आरंभ की 18 गाथाओं की टीका की गई है; उसीप्रकार प्रस्तुत पुस्तक 'मीडियम समयसार : भाग-1' में मध्य की 19 से 38 तक की गाथाओं की टीका की गई है। मध्य की गाथायें होने से इसका नाम 'मीडियम समयसार : भाग-1' रखा है। इन गाथाओं में अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जीव किसप्रकार धीरे-धीरे प्रतिबुद्ध जीव होता है। उसका क्रमिक वर्णन किया गया है। इन्हें समझकर अपने जीवन में उतारकर पाठक - 'अज्ञान से ज्ञान' की ओर बढ़ सकते हैं। सभी अज्ञान को दूर कर ज्ञान की ओर अपना कदम बढ़ाने में समर्थ हों - ऐसी भावना है।

- डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

कीमत कम करने में सहयोग

1.	श्री महेश जे. पारेख, मुम्बई	1100.00
2.	स्व. श्री घीसालालजी जैन की पुण्य स्मृति में, नीमच	1100.00
3.	श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन, जयपुर	1100.00
	कुल राशि	**3551.00**

श्रीमती प्रभा शान्ति मोहनोत, पीट्सबर्ग, यू.एस.ए. की तरफ से परमागम ऑनर्स के सभी विद्यार्थियों को सप्रेम भेंट।

मीडियम समयसार की विषय वस्तु

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये।।
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये।।कलश 15।।

आचार्य कुंदकुंद कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में उपलब्ध 1 से 18 गाथाओं की व्याख्या 'मिनी समयसार' में कर चुके हैं। अब उसके आगे की 19 से 38 तक की गाथाओं की व्याख्या 'मीडियम समयसार' में की जा रही है। इनमें आरंभ की 19 से 33 तक की 15 गाथाओं में अत्यंत अप्रतिबुद्ध जीव को समझाने की दृष्टि से वर्णन किया गया है। राग, द्वेष, कर्म, शरीर और आत्मा को एक मानना अथवा इनको ही आत्मा मानने वाले जीव को अत्यंत अप्रतिबुद्ध कहा गया है। इसप्रकार अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा जीव को ही आचार्य कुंदकुंद ने अप्रतिबुद्ध कहा है।

जिनमें आरंभ की **19 से 23** तक की 5 गाथाओं में अज्ञानी व ज्ञानी का अंतर बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को आत्मामय एवं आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्ममय मानता है, वह अज्ञानी है। अज्ञानी जीव पुद्‌गलादि परद्रव्य व परभावों में असद्‌भूत आत्मविकल्प करता है एवं ज्ञानी वस्तुस्वरूप को जानता हुआ परद्रव्य व परभावों में असद्‌भूत आत्मविकल्प नहीं करता है।

गाथा **24 और 25** में तर्क से अज्ञानी की मान्यता का निराकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- उपयोगमय जीव द्रव्य यदि पुद्‌गल

द्रव्यमय हो जाय अथवा पुद्‌गल द्रव्य जीवत्व को प्राप्त हो तो ही पुद्‌गल द्रव्य को अपना कहा जा सकता है, किन्तु ऐसा नहीं होता; अतः परद्रव्य में आत्मविकल्प करना छोड़!

आचार्यदेव के उक्त कथन पर **26वीं** गाथा में शास्त्रों का पाठी अज्ञानी कुतर्क करते हुए कहता है कि- यदि ऐसा है तो फिर तीर्थंकरों एवं आचार्यों की जो स्तुतियाँ हैं, वे सभी मिथ्या हो जायेंगी। यदि ये मिथ्या नहीं हैं तो फिर 'आत्मा देह ही है' - ऐसा हम मानते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अज्ञानी जीव को शरीर और रागादि समस्त परपदार्थों से पृथक् निज ज्ञायक वस्तु दृष्टि में न आने और उसका अनुभव न होने से रागादि या शरीर में ही अपनत्व होता रहता है। शास्त्रों को पढ़कर राग और आत्मा भिन्न-भिन्न है- ऐसा बोलते हुए भी अज्ञानी के अंतरंग में राग व आत्मा की एकत्व बुद्धि नहीं टूटती है; क्योंकि आत्मा की अनुभूति के बिना यह एकत्व बुद्धि नहीं टूट सकती।

उक्त आशंका का समाधान **27वीं से 30वीं** गाथा तक की चार गाथाओं में नयविभाग द्वारा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि - व्यवहारनय से ही जीव और शरीर को एक कहा जाता है, निश्चयनय से नहीं; अतः पुद्‌गलमय देह की स्तुति करके जिनदेव की स्तुति मानना व्यवहार कथन है, निश्चय कथन नहीं। जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता; उसीप्रकार निश्चय से शरीर के गुण केवली के नहीं होते, अतः शरीर की स्तुति से केवली की स्तुति नहीं होती, अपितु केवली के स्वद्रव्याश्रित गुणों की स्तुति से ही उनकी वास्तविक स्तुति होती है।

इसके पश्चात् **31 से 33** तक की तीन गाथाओं में निश्चय स्तुति का स्वरूप बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- उक्त निर्णय कर जो जीव इन्द्रियों को जीतकर अन्य द्रव्यों से पृथक् आत्मा को ज्ञानमय

जानते हैं, मानते हैं; जमते हैं, रमते हैं; वे 'जितेन्द्रिय' कहलाते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि निर्विकल्प आत्मानुभूति ही प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति है, जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के ही होती है। इस स्तुति से दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है।

जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से भिन्न जानते हैं; वे 'जितमोही' कहलाते हैं। यह द्वितीय प्रकार की निश्चयस्तुति है, जो उपशमश्रेणी वालों को होती है। इससे चारित्रमोह का उपशम होता है।

जब यही जितमोही साधु मोह को सत्ता में से भी क्षीण कर देते हैं, तब वे 'क्षीणमोही' कहलाते हैं। यह तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति है, जो क्षपकश्रेणी वालों को होती है। इससे चारित्रमोह का क्षय होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 31वीं गाथा में अप्रतिबुद्ध जीव के बोध (ज्ञान) प्राप्त होने के आरंभ की चर्चा की गई है। तो 33वीं में गाथा में परिपूर्ण बोध को प्राप्त हुए जीव की चर्चा की गई है।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि 'मैं ज्ञान स्वरूप हूँ,'- ऐसा विकल्प नहीं, अपितु ऐसी अनुभव स्वरूप परिणति का प्रकट होना, जानना ही अप्रतिबुद्धपना समाप्त करना है, ज्ञानी बनाना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समयसार की गाथा 31, 32 और 33 में अत्यंत संक्षेप में संपूर्ण मोक्षमार्ग समझा दिया है, बता दिया है। संसार से मुक्त होने का मार्ग बता दिया है। बहुत सरल है मुक्तिमार्ग! बस! हमें अपने ज्ञानमय आत्मा को ही जानना है और जानते रहना है।

आत्मा को जानने से मुक्ति का मार्ग प्रारंभ होता है और जानते रहने से उसकी पूर्णता अर्थात् आत्मा को जानकर एक समय को आत्मा में स्थिर हुए तो सम्यग्दर्शन होता है और जब आत्मा को लगातार जानते रहें, उसमें लीन हो जाएँ तो मोक्ष की प्राप्त होती है।

इसी बात को बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कह रहे हैं कि जब हम पंचेन्द्रियों के विषय-कषायों में, काम-भोग में न उलझ कर अपने ज्ञानमय आत्मा में स्थिर होते हैं तो धर्म का आरंभ होता है। यही निश्चय स्तुति है और ऐसा करने वाले **जितेन्द्रिय** कहलाते हैं।

जब धीरे-धीरे मोह- राग-द्वेष में न उलझकर ज्ञानमय आत्मा में स्थिरता बढ़ती जाती है, लीनता होती जाती है, तो वह दूसरे प्रकार की निश्चय स्तुति होती है और ऐसा करने वाले **जितमोही** कहलाते हैं।

ज्ञानमय आत्मा में लीनता बढ़ते-बढ़ते जब अंतर्मुहुर्त तक ठहर जाती है तो तीसरे प्रकार की निश्चय स्तुति होती है और ऐसा करने वाले **क्षीणमोही** कहलाते हैं ।

सक्षेंप में हम कह सकते हैं कि 19 से 23 तक की पाँच गाथाओं में अज्ञानी जीव की मिथ्या मान्यता को बताया गया है और 24वीं, 25वीं दो गाथाओं में उनका तर्क से निराकरण कर दिया गया है।

26वीं गाथा में शास्त्रों के पाठी जीव के द्वारा किए जाने वाले कुतर्क को बताया गया है।

27 से 33 तक की गाथाओं में व्यवहार- निश्चय नयों के माध्यम से तर्कपूर्ण समाधान करते हुए अंतिम तीन (31, 32,व 33वीं) गाथाओं में निश्चय स्तुति का स्वरूप बताया गया है।

आचार्य कुंदकुंद की दृष्टि में तो अनादि से मिथ्यादृष्टि जीव को इतना समझाने पर आत्मा और परपदार्थों की भिन्नता पहचान लेंगे और अपने स्वरूप में स्थिर हो जाएँगे, ज्ञानी हो जाएँगे।

इसके पश्चात् **34वीं और 35वीं** दो गाथाओं में सम्यग्दृष्टि हुए जीव की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए, त्याग का स्वरूप बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को पर जानकर छोड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों एवं परभावों को पर जानकर छोड़ देते हैं। परवस्तु को पर जानकर उसका ग्रहण न

करना ही त्याग है, प्रत्याख्यान है। यही कारण है कि ज्ञानी अपने अतिरिक्त समस्त परभावों को पर जानकर उनका ग्रहण नहीं करते हैं। इसप्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान ही त्याग है, प्रत्याख्यान है।

इसके पश्चात् **36-37** - इन दो गाथाओं में समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्नता बताते हुए कहा है कि - 'मोह एवं धर्मादि द्रव्य मेरे कुछ नहीं हैं, मैं एक उपयोगमात्र हूँ' - ऐसा जाननेवाले को 'मोह से निर्मम' एवं 'धर्मादि से निर्मम' कहा जाता है।

इसके पश्चात् **38वीं** गाथा में ज्ञानी के स्व-पर के बारे में होने वाले चिंतन को बताते हुए आचार्यदेव एक बार पुनः आत्मा के शुद्ध स्वरुप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- ज्ञानी जानता है कि मैं तो सदा दर्शन -ज्ञानमय, एक, शुद्ध, अरूपी हूँ; निश्चय से परमाणु मात्र परद्रव्य भी मेरे नहीं हैं।

ज्ञानी जीव द्वारा आत्मा के उक्त शुद्धस्वरूप के निरंतर चिंतन, मनन पूर्वक अनुभूति से मोह का समूल नाश हो जाता है। उसके पुनः उत्पन्न होने के अवसर समाप्त हो जाते है; क्योंकि पर पदार्थों को जानने मात्र से मोह उत्पन्न नहीं होता। मोह तो उसे अपना जानने से, अपना मानने से और उनमें जमने-रमने से उत्पन्न होता है। किन्तु जो पर में, ज्ञेय भावों में, भावक भावों में अपनेपन की मान्यता को जड़ मूल से उखाड़ फेंकता है, उसे महान ज्ञान प्रकाश प्रकट हो जाता है। जिस ज्ञान प्रकाश के रहते मोह पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में अज्ञानियों की मान्यता और उस मान्यता का हेतु बताकर, उन्हें दूर करने का उपाय शुद्धनय से शुद्धजीव का स्वरूप भी बता दिया है।

मैं इन गाथाओं के संदर्भ में संक्षेप में इतना ही कहूँगी -

पकड़ समयसार की डोर।
बढ़ें अज्ञान से ज्ञान की ओर।।

•

गाथा 19

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।19।।

पदविच्छेद – अहम्+इदि।

शब्दार्थ – जा = जब तक (इस आत्मा की); कम्मे = द्रव्यकर्म, भावकर्म; य = और; णोकम्मं = नोकर्म में; अहम् = यह मैं हूँ, च = और; अहकं = मुझ में (आत्मा में); इति = यह; कम्म = कर्म; णोकम्मं = नोकर्म हैं; ऐसा खलु बुद्धी = ऐसी ही बुद्धि है; ताव = तब तक; अप्पडिबुद्धो = अप्रतिबुद्ध, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि; हवदि = होता है।

संदर्भ – 'अज्ञानी जीव कब तक अज्ञानी रहता है?' यह बताते हुए आचार्य कुंदकुंद इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ – जब तक यह जीव भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म में यह मैं हूँ और 'यह सभी कर्म, नोकर्म मुझमें हैं' – ऐसा मानता रहता है, तबतक वह आत्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है।

व्याख्या – इस गाथा में अज्ञानी का स्वरूप और अज्ञान का कारण बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि– जब तक जीव (पुण्य-पापादि शुभाशुभ अंतरंग परिणाम रूप) भावकर्मों में, (ज्ञानावरणादि जड़) द्रव्यकर्मों में और (शरीरादि बहिरंग पुद्गल परिणाम रूप) नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'यह कर्म, नोकर्म मेरे हैं'– ऐसी अहंबुद्धि और ममत्वबुद्धि करता रहता है, तब तक ही वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि रहता है।

जिसप्रकार स्व में, अपनी आत्मा में 'यह ही मैं हूँ' – ऐसी अहंबुद्धि वाला जीव ज्ञानी होता है, सम्यग्दृष्टि कहलाता है ; उसी प्रकार सभी पर पदार्थों में 'यह ही मैं हूँ' और 'इनसे मुझे लाभ होता है' – इस प्रकार की मान्यता वाला जीव अज्ञानी होता है, मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

पदार्थों में 'मैं पना' होने को ही **अहंबुद्धि** कहते हैं और पदार्थों में 'एकता' होने से उसे ही **एकत्व बुद्धि** भी कहते हैं । जब यह 'मैं पना/एकता' स्व में होती है तो सुख का कारण होने से उपादेय होती है तथा जब यह 'मैं पना/एकता' पर में होती है तो दुःख का कारण होने से 'हेय' होती है।

अनादि से जीव 'परपदार्थों' में 'मैं पना'/'एकता' करता रहा है, अतः अज्ञानी है तथा जब तक ऐसा करता रहेगा तब तक अज्ञानी ही रहेगा। जब जीव 'स्व आत्मा' में 'मैं पना' / 'एकता' करता है, तब वह ज्ञानी कहलाता है।

उक्त प्रकार से ही पदार्थों में 'ये मेरे हैं, यह मुझमें हैं'– इस प्रकार की मान्यता को **ममत्व बुद्धि** या **स्वामित्व बुद्धि** कहते हैं।

पदार्थों में 'ममपना' होने से जिसे 'ममत्व बुद्धि' कहते हैं, 'अधिकार बुद्धि' होने से उसे ही स्वामित्व बुद्धि कहते हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि स्वामीपना होने से अधिकार बुद्धि और अधिकारपना होने पर स्वामित्व बुद्धि सहज ही आ जाती है।

परपदार्थों में होने वाली ममत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि दुःख का कारण होने से हेय है और 'पर मेरा नहीं, पर मुझमें रह सकता नहीं, मैं पर में कुछ कर सकता नहीं; मैं मेरा ही हूँ, मैं मुझमें ही रहता हूँ, मैं मेरा ही स्वामी हूँ', – ऐसी अपने में अधिकार बुद्धि ही सुख का कारण होने से उपादेय है।

शरीरादि नोकर्म व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म बहिरंग पुद्गल परिणाम हैं। अतः पर हैं ही, किंतु इस गाथा में तो रागादिरूप भावकर्म को भी पुद्गल परिणाम कहा है; क्योंकि भावकर्म पुद्गल की जाति का है और आत्मा ज्ञान जाति का है। दया, दान, व्रत, भक्ति रूप पुण्य –पाप

के सभी अंतरंग परिणाम में ज्ञान के अंश का अभाव है, अतः उनमें चेतना का अभाव है, इसलिए वे आत्मा के परिणाम नहीं।

चूँकि रागद्वेषादि परिणाम पुद्गल में होते देखे नहीं जाते और वे आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, अतः हमें वे जीव ही लगते हैं और जब उन्हें 'पुद्गल परिणाम' कहा जाता है तो हमें हमारे 'माइंड सेट' के कारण यह बात समझ नहीं आती, पचती नहीं।

जिसप्रकार संतान न अकेले माँ की होती है, न अकेले पिता की। उत्पत्ति अपेक्षा कथन करें तो माँ की कहलाती है और निमित्त अपेक्षा कथन करने पर पिता की। उसी प्रकार उत्पत्ति अपेक्षा कथन करने पर वे भावकर्म आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, किंतु निमित्त अपेक्षा कथन करने पर वे पुद्गल परिणाम कहलाते हैं।

जिसप्रकार कैंसर की गांठ अपने शरीर में ही उत्पन्न होती है, पर दु:खदायी होने से निकालने योग्य होती है; उसी प्रकार पुण्य-पापादि की गांठ आत्मा में ही उत्पन्न होती है, किंतु दु:खदायक होने से हेय है।

संक्षेप में कहें तो इस गाथा में भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म - तीनों को ही पुद्गल परिणाम कहा है। पुद्गल परिणाम होने से वे 'पर' हैं। उनकी सत्ता आत्मा से भिन्न है, जुदा है। जिनकी सत्ता अपने (आत्मा) से भिन्न है; ऐसे मोह-राग-द्वेषादि पर सत्ता का अपने में अस्तित्व मानना मिथ्यात्व है। अतः जब तक जीव की भिन्न सत्ता वाले भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म में अभेद बुद्धि रहती है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध रहता है, अज्ञानी रहता है, बहिरात्मा रहता है, मिथ्यादृष्टि रहता है।

इसप्रकार जब तक जीव परपदार्थों में अपनापन करता रहता है, तब तक अज्ञानी रहता है।

इस गाथा में विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ ज्ञान स्वरूप होने के कारण आत्मा को ज्ञानी नहीं कहा गया है, अपितु जो जीव अपने को 'ज्ञान स्वरूप' अनुभव करता है, वह ज्ञानी होता है और जो अपने को 'ज्ञान स्वरूप' अनुभव नहीं करता, वह अज्ञानी कहलाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में अज्ञानी जीव के संबंध में सामान्य कथन किया गया है।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। जिसमें गाथा 4 में अत्यंत संक्षेप में जीव के बंध, मोक्ष की प्रक्रिया समझाई गई है।

•

1. आनंद ! आनंद !! आनंद !!!

वाह ! वाह !! क्या शब्द है 'आनंद' !!!

सुनते ही मिश्री सी घुल जाती है कानों में! खुशी छा जाती है चेहरों पर। आँखें चमकने लगती हैं, दिल धड़कने लगता है।

हमारे अनेकों सवालों का जवाब है- आनंद!

जब कोई पूँछता है - 'आप कैसे हैं?'

हमारा जवाब होता है - 'आनंद से।'

वह फिर पूँछता है - 'घर में सब कैसे हैं?'

पुन: हमारा जवाब होता है- 'आनंद से!'

हाँ ! भाई साहब, खुशी से कहो या कुशल मंगल से या आनंद से- सभी पर्यायवाची ही हैं।

हम सभी आनंद से रहना चाहते हैं, बड़ों से सुखी जीवन का आशीर्वाद चाहते हैं, छोटों को खुश रहने का आशीर्वाद देते हैं अर्थात् हम सभी अपना जीवन आनंद से बिताना चाहते हैं।

तात्पर्य वृत्ति गाथा 4

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो।।4।।

पदविच्छेद – तत्थ+एव, बंध-मोक्खो।

शब्दार्थ – जीवे = शुद्ध जीव में; व = या,अथवा; अजीवे = अजीव में; संपदि समयम्हि = वर्तमान समय में; जत्थ = जहाँ; उवजुत्तो = उपयोग लगाता है; तत्थेव = वहाँ ही; बंध = बंध; व = अथवा; मोक्खो = मोक्ष; हवदि = होता है; समासेण = संक्षेप में; णिद्दिट्ठो = निर्दिष्ट/कहा है

संदर्भ – जीव के बंध, मोक्ष का कारण बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि-

अर्थ – शुद्ध जीव में या शरीरादि में वर्तमान काल में जहाँ उपयोग लीन होता है, वहाँ ही मोक्ष अथवा बंध होता है – ऐसा संक्षेप में कहा गया है अर्थात् जब 'शुद्ध आत्मा' में उपयोग लगता है, तो मोक्ष होता है और अजीव में उपयोग लगता है, तो बंध होता है। संक्षेप में सर्वज्ञ भगवान ने बंध-मोक्ष की यही प्रक्रिया बताई है।

व्याख्या – इस गाथा में कहा गया है कि जब कोई जीव शुद्ध जीव में उपादेय बुद्धि से परिणत होता है अर्थात् ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान में तन्मय होता है; तब मोक्ष होता है और जब वह अजीव आदि में उपादेय बुद्धि से परिणत होता है, तन्मय होता है; तब बंध होता है। इसलिए सभी सुखार्थी जीवों को 'पर' में नहीं 'निज आत्मा' में, शुद्धात्मा में उपयोग लगाना चाहिए।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति की गाथा 5 में निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक जीव के कर्तापने की चर्चा की गई है। •

तात्पर्य वृत्ति गाथा 5

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं।।5।।

पदविच्छेद – भावं + आदा, पोग्गल-कम्माण ।

शब्दार्थ – णिच्छयदो = निश्चयनय से; आदा = आत्मा; जं = जो, भावं = भाव करता है; सो = वह आत्मा; तस्स भावस्स = उस भाव का; कत्ता = कर्ता; ववहारा = व्यवहारनय से; पोग्गलकम्माण = पुद्गल कर्म का; कत्तारं = कर्ता है।

संदर्भ – जीव किस अपेक्षा से किन भावों का कर्ता है?- यह बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि-

अर्थ – निश्चयनय से आत्मा जिस भाव को करता है, उसी भाव का कर्ता होता है और व्यवहारनय से पुद्गलकर्म का कर्ता होता है।

व्याख्या – इस गाथा में नयों की अपेक्षा बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- जीव शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्ता होता है और अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध भावों का अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादिभावकर्म का कर्ता है तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्यदेव ने गाथा 19 में एकत्व बुद्धि, ममत्त्व बुद्धि की चर्चा की और इस गाथा में कर्ता बुद्धि की अपेक्षा बतलाई है।

चूँकि यह उपसंहारात्मक गाथा है; अतः यहाँ कर्तृत्व की चर्चा संक्षेप में की गई है। जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व संबंधी विस्तृत चर्चा गाथा 69 से 144 तक की गई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तात्पर्यवृत्ति में उपलब्ध यह दो गाथाएँ भी निष्कर्ष रूप गाथाएँ हैं।

तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी विद्वान, भद्र मिथ्यादृष्टि इतने मात्र से ही बंध-मोक्ष का स्वरूप समझकर शुद्धभावों में लीन हो सकते हैं। इसप्रकार यह समयसार का **सातवाँ पड़ाव** है।

आचार्य कुंदकुंद अच्छी तरह जानते थे कि विद्वानों के लिए उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है; अतः विद्वान मिथ्यादृष्टियों के लिए तो यही **पहला पड़ाव** है।

इसके पश्चात् 20-22 तक की गाथाओं में वे उदाहरण देकर अज्ञानी व ज्ञानी का स्वरूप समझाते हैं।

•

2. आनंद एक : प्रश्न अनेक

आनंद में जीना चाहते हैं सभी प्राणी, आनंद में रहना चाहते हैं सभी जन। आनंद के पीछे भागते हैं सारा जीवन। पल-पल, क्षण- क्षण समेटते हैं - आनंद के पलों को। बांध कर रखना चाहते हैं मुट्ठी में उन लम्हों को। पर फिसल फिसल जाते हैं वे पल, वे क्षण, वे लम्हे।

आनंद के पल इतने छोटे क्यों होते हैं? आज जिनमें आनंद महसूस हो रहा है, कल वे तकलीफ क्यों देने लगते हैं ? कहीं आनंद के स्वरूप को समझने में ही तो मुझसे भूल नहीं हो रही है?- ऐसे अनेकों प्रश्न उठ रहे हैं मन में , चल रहा है अंतर्द्वंद्व मन में, जिसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

गाथा 20-22

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ।।20।।

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ।।21।।

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ।।22।।

पदविच्छेद - अहम्+एदम्, एदम्+अहं, अहं+एदस्सम्हि, सचित्त+अचित्त-मिस्सं।।20

पुव्वम्+एदं, मम+एदम्।।21 आद-वियप्पं।।22

शब्दार्थ - अहमेदं = मैं यह (परद्रव्य) हूँ, एदमहं = यह (परद्रव्य) मुझ स्वरूप हैं, अहमेदस्सम्हि = मैं इसका हूँ; मम एदं = यह मेरा है, अण्णं = अन्य, जं-जो, परदव्वं = परद्रव्य; सचित्त = सचित्त,स्त्री-पुत्रादि; अचित्त = अचित्त, धन-जायदाद आदि; मिस्सं = मिश्र-नगर, ग्रामादि; वा = और; आसि मम पुव्वमेदं = यह पूर्व में मेरा था; एदस्सअहंपि आसि पुव्वं = इसका मैं पहिले भी था; होहिदिपुणोवि ममेदं= ये भविष्य में मेरे होंगे, एदस्स = इनका, अहंपि = मैं भी, होस्सामि = होउँगा; एयं = ऐसा,इसप्रकार; तु = परन्तु, असब्भूदं = असद्भूत, आदवियप्पं = आत्मा का विकल्प, करेदि=करता है, संमूढो=मूढ़ /अज्ञानी है; भूदत्थं = परमार्थ वस्तुस्वरूप, जाणंतो = जानता है, ण = नहीं, करेदि = करता है, दु = किन्तु, तं = ऐसे झूठे विकल्प को; असंमूढो = मूढ़ नहीं है.

संदर्भ - इन तीनों गाथाओं में अज्ञानी और ज्ञानी की पहचान कराते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि-

अर्थ – जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्यों में, सचित्त स्त्री-पुत्रादि में, अचित्त धन-धान्यादिक में, मिश्र ग्राम-नगरादिक में असद्भूत आत्मविकल्प करता है, मानता है कि मैं यह हूँ, यह सब परद्रव्य मैं हूँ, मैं इनका हूँ, यह मेरे हैं; ये मेरे पहले थे, इनका मैं पहले था; तथा ये सब भविष्य में मेरे होंगे, मैं भी भविष्य में इनका होउँगा – वह व्यक्ति मूढ है, अज्ञानी है; किन्तु जो पुरुष वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानता हुआ ऐसे झूठे विकल्प नहीं करता है, वह ज्ञानी है।

व्याख्या – इन गाथाओं में 'मैं' और 'यह'- ऐसे दो 'अस्ति' सिद्ध की है। 'यह' में भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म सभी सम्मिलित हैं। इन सभी का अस्तित्व अलग है और इन सब से भिन्न मेरा अस्तित्व अलग है। ज्ञानी दोनों के अस्तित्व को भिन्न-भिन्न जानता है और अज्ञानी उन्हें अभेद, अभिन्न जानता-मानता है।

20 वीं गाथा में नोकर्म रूप परद्रव्य के अस्तित्व को विस्तार से समझाते हुए परद्रव्य के तीन प्रकार बताए हैं- सचित्त परद्रव्य, अचित्त परद्रव्य और मिश्र परद्रव्य।

माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री, कुटुंब, परिवार और पुण्य-पाप के विकल्प आदि **सचित्त परद्रव्य** हैं। शरीर, कार, मोबाइल, रुपया-पैसा आदि सभी पुद्गल **अचित्त परद्रव्य** हैं। नगर, गाँव, सोसाइटी, घर और गुणस्थान, मार्गणास्थान रूप से परिणमित जीव आदि **मिश्र परद्रव्य** हैं। इन परद्रव्यों में अपनेपन की मान्यता ही अज्ञान है। जो गृहस्थ इन परद्रव्यों में आत्मविकल्प करते हैं, वे अज्ञानी हैं और जो गृहस्थ एवं शुभोपयोग में प्रवर्तमान तपोधन व निर्विकल्प समाधिरत (शुद्धोपयोगी) तपोधन शरीरादि परद्रव्यों में आत्मविकल्प ना करके अपनी आत्मा को ही निज जानते-मानते हैं, वे ज्ञानी धर्मात्मा हैं, प्रतिबुद्ध हैं।

उक्त तीनों ही गाथाओं में अनेक प्रकार से एक ही बात समझाई गई है कि परद्रव्य में एकत्व-ममत्व करना ही अज्ञान है और परद्रव्यों से एकत्व-ममत्व तोड़कर अपने आत्मा में एकत्व-ममत्व करना सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, इसी एकत्व-ममत्व के आधार पर ज्ञानी-अज्ञानी की पहचान होती है। इनमें मात्र इतना ही अंतर है कि पहले सामान्य रूप से लिया है कि मैं यह हूँ, और यह मेरा है; पश्चात् तीन काल को लिया है- वर्तमान में यह मेरा है और मैं इनका हूँ, भूतकाल में यह मेरा था और मैं इनका था; भविष्य में यह मेरा होगा और मैं उनका होऊँगा। इसप्रकार 20वीं गाथा में अज्ञानी जीव की वर्तमानकालीन प्रवृत्ति की अपेक्षा तथा 21वीं गाथा में भूतकालीन और भविष्यकालीन प्रवृत्ति की अपेक्षा से कथन किया गया है तथा 22वीं गाथा के पूर्वार्द्ध में अज्ञानी के पहचान का चिन्ह और उत्तरार्द्ध में ज्ञानी की पहचान का चिन्ह बताते हुए कहा गया है कि – पर में अपनापन करनेवाले अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, बहिरात्मा हैं और अपने आत्मा में अपनापन अनुभव करनेवाले ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, अंतरात्मा हैं।

इन गाथाओं में अज्ञानियों का विशेष कथन और ज्ञानियों का सामान्य कथन किया गया है।

कुछ बालबुद्धि अप्रतिबुद्ध, मिथ्यादृष्टि श्रोता इतने मात्र से ज्ञानी का स्वरूप समझ नहीं पाते, ज्ञानी-अज्ञानी का भेदज्ञान नहीं कर पाते, अतः उनमें भेदज्ञान की भावना को उत्पन्न करने के लिए आगामी 23 से 27 तक की गाथाओं में अनेक प्रकार से तर्क व युक्तियों द्वारा इसी बात को समझाया गया है। •

गाथा 23

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।23।।

पद विच्छेद – अण्णाण-मोहिद-मदी, मज्झम्+इणं, बद्धम्+ अबद्धं, बहुभाव-संजुत्तो।

शब्दार्थ – मदी = मति, बुद्धि; अण्णाण = अज्ञान से; मोहिद = मोहित है, मोह से युक्त है; च = और; बहुभाव = राग-द्वेष आदि अनेक भावों से; संजुत्तो = युक्त है; तहा जीवो = ऐसा जीव; भणदि = कहता है; इणं = यह; बद्धं = बंधे हुए; अबद्धं = बिना बंधे हुए; पोग्गलं दव्वं = पुद्‌गल द्रव्य; मज्झम् = मेरे हैं।

संदर्भ – इस गाथा में अज्ञानी जीव की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि-

अर्थ – जिसकी बुद्धि परपदार्थों में एकत्व ममत्वरूप अज्ञान से मोहित है और जो राग- द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है; ऐसा जीव कहता है कि ये बद्ध और अबद्ध पुद्‌गलद्रव्य मेरे हैं।

व्याख्या – इस गाथा में परद्रव्यों से एकत्व-ममत्व का कारण और अज्ञानी जीव की प्रवृत्ति बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि-

वह अज्ञानी अज्ञानवश स्वभाव भाव और अस्वभाव भावों में भेद ज्ञान नहीं करके दोनों को एकरूप करता है अर्थात् अस्वभाव भावों को स्वभाव भाव समझ उनमें एकत्व ममत्व करता है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव तो ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान ही है और व्रत, तप, दया, दान, भक्ति, हिंसा आदि पुण्य-पाप के रागादि भाव अस्वभाव भाव हैं। कर्म की अति निकटता से हुए इन अस्वभाव भावों को अज्ञानी निज मान कर उनमें एकत्व ममत्व

करता है। इन रागादि भावों में एकत्व ममत्व कर लेने से उपयोग स्वरूप आत्मा ढ़ँक जाता है, तिरोभूत हो जाता है; अतः अज्ञानी स्व-पर भेदविज्ञान नहीं कर पाता है और स्व-पर भेदविज्ञान के अभाव में स्व-पर दोनों को एकरूप मानकर प्रवृत्ति करता है।

परपदार्थों में एकत्व-ममत्त्व बुद्धि होना ही जीव का अज्ञान है।

अस्वभाव भावों को स्वभावभाव समझने की यह गलती जीव के स्वयं के अज्ञान के कारण होती है, स्वत: होती है; कर्म के कारण नहीं। इसप्रकार स्पष्ट है कि जीव अज्ञान से स्वत: मोहित है।

जो जीव मोहवश उक्त सभी बद्ध-अबद्ध परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व बुद्धि करता है; वह अज्ञानी है।

शरीर 'बद्ध परद्रव्य' है और घर, पैसा, गाड़ी, माता-पिता, भाई-बहिन आदि सभी 'अबद्ध परद्रव्य' हैं।

स्पष्ट भिन्न समस्त परद्रव्यों को 20 से 22 तक की गाथाओं में सचित्त, अचित्त और मिश्र- इन तीनों रूपों में विभाजित किया गया था। उन्हीं परद्रव्यों को इस गाथा में बद्ध और अबद्ध- इन दो रूपों में विभाजित किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में 'अबद्ध-बद्ध पुद्‌गलद्रव्य' में समस्त नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म को सम्मिलित कर लिया गया है।

गाथा 19 में इन्हीं का सामान्य कथन किया गया था और इस गाथा में उन्हीं का विशेष कथन किया गया है।

इसके पश्चात् 24वीं और 25वीं दो गाथाओं में जीव और पुद्‌गल की भिन्नता को तर्क व युक्ति द्वारा समझाया जा रहा है। •

गाथा 24–25

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।24।।

जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।25।।

पद विच्छेद – सव्वण्हु–णाण–दिट्ठो, उवओग–लक्खणो, पोग्गल–दव्वी–भूदो, मज्झम्+इणं, पोग्गलदव्वी–भूदो, जीवत्तम्+ आगदं, मज्झम्+इणं।

शब्दार्थ – सव्वण्हु = सर्वज्ञ के; णाण = ज्ञान द्वारा; दिट्ठो = देखा गया; णिच्चं = सदा; उवओग–लक्खणो = उपयोग लक्षण वाला; जीवो = जीव है; सो = वह; पोग्गल–दव्वी = पुद्गल द्रव्य रूप; कह = कैसे; भूदो = हो सकता है; जं = जिससे (तू); भणसि = कहता है कि; मज्झम्इणं = यह (पुद्गल द्रव्य) मेरा है।

संदर्भ – अज्ञानी को जीव और पुद्गल की भिन्नता समझाते हुए आचार्य कुंदकुंद इन गाथाओं में कह रहे हैं कि –

अर्थ – सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोग लक्षण वाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है कि जिससे तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य रूप हो जाए और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तूँ कह सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

व्याख्या– इस गाथा में पुद्गल द्रव्य को अपना मानने वाले अज्ञानी को तर्क से समझाते हुए आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि जीव और पुद्गल – दोनों के लक्षण भिन्न–भिन्न हैं।

पुद्गल रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है, तथा जीव रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित, ज्ञान–दर्शन स्वभाव वाला है। इसप्रकार दोनों सर्वथा भिन्न–भिन्न स्वभाव वाले होने से कभी भी किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकते हैं।

यदि पुद्गल अपना स्वभाव छोड़ जीवद्रव्य रूप हो जाए और जीव अपना स्वभाव छोड़ पुद्गलद्रव्य रूप हो जाए – तो ही कहा जा सकता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है।

पर यह तो संभव नहीं है, अत: तुम्हारा यह मानना ठीक नहीं है कि सभी बद्ध–अबद्ध परपदार्थ मेरे हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस गाथा में आचार्यदेव अपने शिष्यों को करुणापूर्वक कह रहे हैं कि तू तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की बातें क्यों नहीं सुन रहा, मान रहा। जब उन्होंने तेरी और पुद्गल दोनों की 'बाउंड्री लाइन' (सीमा) अलग अलग कर दी है, तो फिर तुम क्यों बार–बार पुद्गल को अपना कह रहे हो। तू चेतन है ; वह जड़ है। हाँ! एक ही शर्त पर तुम पुद्गल को अपना कह सकते हो। वह शर्त यह है कि तुम पुद्गलरूप हो जाओ और पुद्गल तुम्हारे रूप। पर आज तक तो ऐसा होता देखा नहीं गया है; अतः प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से परद्रव्यों को अपना मानना सही नहीं है।

आचार्यदेव के द्वारा इतना समझाने पर भी अप्रतिबुद्ध शिष्य को शरीर से भिन्नता समझ नहीं आती। अतः मानो वह अगली 26वीं गाथा में आचार्यदेव से प्रश्न पूँछता है।

•

गाथा 26

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।26।।

पद विच्छेद – तित्थय:+आयरिय-संथुदी, च+एव।

शब्दार्थ – जदि = यदि; जीवो = जीव; सरीरं = शरीर; ण = नहीं; तित्थय: = तीर्थंकरों की; च = और; आयरिय = आचार्यों की; संथुदी = स्तुति; सव्वा वि = सभी; मिच्छा = मिथ्या; हवदि = हो जायेंगी; तेण = इसलिए; देहो दु एव = शरीर ही; आदा = आत्मा; हवदि = होता है।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद भोले शिष्य के मन में उठने वाले द्वंद्व को बताते हुए कहते हैं कि-

अर्थ – यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जिनागम में जो स्तुति की गई हैं; वह सभी मिथ्या हो जाएँगी। इसलिए हम समझते हैं कि देह ही आत्मा है।

व्याख्या – इस गाथा में शास्त्राभ्यासी शिष्य अपनी मान्यता की पुष्टि में शास्त्रों के उदाहरण देते हुए कहता है- आप कहते हो कि शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; परंतु हमें यह बात बिल्कुल नहीं जमती, पचती; क्योंकि शास्त्रों में देह के गुणों के आधार पर ही तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। अतः यदि हम देह को जीव नहीं मानेंगे तो वह स्तुति मिथ्या सिद्ध होगी। इसलिए हम तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इसप्रकार अज्ञानी ने शास्त्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव शास्त्र पढ़कर भी अपनी मिथ्या मान्यता का ही पोषण करते हैं।

पंडित टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में यही शैली अपनाई है। उनका शिष्य भी अपनी मान्यता की पुष्टि में शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करता है।

अज्ञानी जीव की उक्त शंका का समाधान आचार्यदेव आगामी 7 गाथाओं में नयों के माध्यम से करते हैं। जिसमें 27वीं गाथा में आचार्यदेव सर्वप्रथम शिष्य की शंका का समाधान सामान्य रूप से करते हैं।

•

3. अंतर्द्वंद्व मन का

आनंद के जिन पलों के सहारे हम अब तक अपना जीवन आनंद से व्यतीत कर रहे थे , जब वे छोटे- छोटे पल भी हमारे हाथों से फिसलने लगते हैं ; हमारे जीवन से निकलने लगते हैं, तब अनेकों प्रश्न हमारे मन- मस्तिष्क में गूँजने लगते हैं:-

1. क्या बचपन में है आनंद?
2. क्या शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही है आनंद ?
3. क्या मन की संतुष्टि में है आनंद??
4. क्या मधुर वचनों में है आनंद?
5. क्या दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में है आनंद?
6. क्या खुशी के साथ दुःख अनिवार्य है ?
7. क्या मृग मरीचिका है आनंद?
8. क्या अभी तक हम आनंद के भ्रम में जी रहे थे?
9. मेरी भूल
10. कहाँ है आनंद?; कैसा है आनंद?

तो क्या बचपन में है आनंद? इसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

गाथा 27

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलुएक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।27।।

शब्दार्थ – ववहारणओ = व्यवहारनय; भासदि = कहता है; य = और; एक्को खलु हवदि = एक ही है; कदा वि = कभी भी; एक्कट्ठो = एक पदार्थ; ण = नहीं; णिच्छयस्स = निश्चयनय।

संदर्भ – देह व जीव की एकता और भिन्नता के कथन की अपेक्षा बताते हुए आचार्य कुंदकुंद इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ – व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही हैं; किंतु निश्चयनय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

व्याख्या – इस गाथा में आचार्यदेव शिष्य को नय विभाग समझाते हुए कहते हैं कि –हे भव्य! तुम्हारा कथन व्यवहारनय से तो सत्य है, किंतु निश्चयनय से नहीं। तुम नयों का स्वरूप नहीं समझते, अतः तुमसे गलती हो रही है। शास्त्रों में देह के गुणों के आधार पर तीर्थंकरों, आचार्यों की जो स्तुति की गई है, वह व्यवहारनय से सत्यार्थ है; क्योंकि व्यवहारनय से जीव और देह को एक कहा जाता है। अतः शास्त्रों में कही गई स्तुति व्यवहारनय की अपेक्षा मिथ्या सिद्ध नहीं होती; किंतु कोई यदि उन्हें निश्चय से भी सत्य समझ ले तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा।

निश्चय से तो चैतन्य स्वभावी जीव व जड़ देह कभी भी एक नहीं होते। खाना-पीना, बोलना आदि क्रियाएं जड़ की हैं, इसे आत्मा नहीं कर सकता और जानना, जानना- जो उपयोग स्वभाव है, वह आत्मा

है, यह देह नहीं कर सकती; अतः जीव व देह को एक मानना मिथ्यात्व है, अज्ञान है।

संक्षेप में कहें तो जीव व देह एक ही है – यह व्यवहार कथन है और जीव व देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते – यह निश्चय कथन है।

इसके पश्चात् आगामी 28वीं, 29वीं- दो गाथाओं में विशेष कथन द्वारा शिष्य की शंका का समाधान किया गया है।

•

4. क्या बचपन में है आनंद?

बचपन का आनंद! वाह!! क्या कहने हैं बचपन के आनंद के? दिन-रात तो देखते हैं उनके सुख!

जब तक वे बोलना नहीं सीखते, तब तक तो उनकी अभिव्यक्ति सीमित, दुःख असीमित अर्थात् कष्ट तो होता हैं उन्हें बहुत, पर बता नहीं सकते। रोना ही एकमात्र उनके कष्टों की अभिव्यक्ति का साधन है। माता-पिता अनुमान लगाते रहते हैं। भूख- प्यास आदि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं । इन्हीं जरूरतों की पूर्ति से संतुष्ट हो जाते हैं बच्चे, मुस्कुराने लगते हैं। तो साथियों! यह है हमारे आनंदमय जीवन का आरंभ ! तो क्या शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही है आनंद ? जिसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

गाथा 28

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।28।।

पद विच्छेद – इणम्+अण्णं

शब्दार्थ – मुणी = मुनिराज; जीवादो = जीव से; अण्णं = भिन्न; इणम् = इस; पोग्गलमयं देहं = पुद्गलमय शरीर की; थुणित्तु = स्तुति करके; मण्णदि हु = ऐसा मानते हैं कि; मए = मैंने; केवली भयवं = केवली भगवान की; संथुदो = स्तुति की; वंदिदो = वंदना की।

संदर्भ– इस गाथा में व्यवहारनय के कथन को उदाहरण द्वारा उचित बताते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ – मुनिराज भी जीव से भिन्न इस पुद्गलमय शरीर की स्तुति करके व्यवहार से ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति, वंदना की है।

व्याख्या – इस गाथा में शास्त्रों में वर्णित देहाश्रित स्तवन को उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन बताकर उनका औचित्य सिद्ध किया गया है। साथ ही साथ मुनि पद से स्पष्ट कर दिया गया है कि व्यवहार कथन अज्ञानी के कथन नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, आत्मानुभवी मुनिराज भी इसीप्रकार से वंदना करते हैं। वस्तुतः व्यवहार वन्दना का, व्यवहार स्तुति का, यही स्वरूप है और वह व्यवहार दृष्टि से सही है। अतः व्यवहार से तीर्थंकरों के देह दर्शन को ही 'देव दर्शन' कहते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में व्यवहारनय की भूतार्थता, सत्यार्थता बताई गई है।

इसके पश्चात् आचार्यदेव 29वीं गाथा में निश्चयनय के कथन द्वारा व्यवहारनय की अभूतार्थता, असत्यार्थता बताते हैं। •

गाथा 29

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।29।।

शब्दार्थ – तं = वह (स्तवन); णिच्छये = निश्चयनय से; जुज्जदि = योग्य; ण = नहीं है; हि = क्योंकि; सरीरगुणा = शरीर के गुण; केवलिणो = केवली के; थुणदि = स्तुति करता है; सो = वह, तच्चं = परमार्थ से; होंति = होते हैं।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद व्यवहारनय के कथन का निषेध करते हुए निश्चय स्तुति का सामान्य स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि–

अर्थ – वह (28वीं गाथा में कहा गया) व्यवहार स्तवन निश्चयनय से योग्य नहीं है; क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

व्याख्या – इस गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय से शरीर की स्तुति करने पर केवली भगवान की निश्चय स्तुति नहीं होती; क्योंकि जो शरीर के गुण हैं, वे पुद्गल के गुण हैं; आत्मा के गुण नहीं, केवली के गुण नहीं। केवली की सच्ची स्तुति, सच्ची भक्ति तो उनकी आज्ञा पालन ही है और उनकी आज्ञा है – अपनी आत्मा का अनुभव करो, आत्मानुभूति करो। अतः निज भगवान आत्मा का अनुभव ही सच्ची निश्चयस्तुति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पहले 27वीं गाथा में व्यवहार की स्थापना की गई और अब इस गाथा में निश्चय द्वारा उसका निषेध किया जा रहा है।

इसके पश्चात् 30 वीं गाथा में निश्चयस्तुति का विशेष स्वरूप उदाहरण द्वारा बतलाया गया है। •

गाथा 30

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।30।।

शब्दार्थ – णयरम्मि = नगर का; वण्णिदे = वर्णन करने पर; जह = जैसे (जिस प्रकार); ण = नहीं; वि = भी; रण्णो = राजा का; वण्णणा = वर्णन; कदा = कभी भी; होदि = होता है; देहगुणे = शरीर के गुण का; थुव्वंते = स्तवन करने पर; केवलिगुणा = केवली के गुणों का; थुदा = स्तवन (स्तुति); होंति = होता है।

संदर्भ – इस गाथा में व्यवहार कथन के अभूतार्थता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ – जिसप्रकार नगर का वर्णन करने पर वह वर्णन राजा का वर्णन नहीं हो जाता; उसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं हो जाता।

व्याख्या – इस गाथा में आचार्यदेव व्यवहारनय के कथनों का निषेध करते हुए कह रहे हैं कि– जिसप्रकार कोट, उपवन (बगीचा), खाई आदि के द्वारा नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं हो जाता, उसी प्रकार गोरे, काले आदि शरीर के गुणों की स्तुति करने से तीर्थंकर भगवान के अनंत ज्ञान–दर्शन आदि गुणों की स्तुति भी नहीं हो सकती है;क्योंकि आत्मा और शरीर द्रव्य– गुण– पर्याय तीनों अपेक्षा से परस्पर भिन्न–भिन्न ही हैं। शरीर तो अनंत पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध है और आत्मा, ज्ञान –दर्शन आदि अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड है। अतः सर्वप्रथम आत्मा और शरीर का भिन्न–भिन्न स्वरूप जानकर, आत्मा का अनुभव करना चाहिए । वही निश्चय स्तुति है। इसलिए यहाँ समझाते हैं कि शरीर के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में व्यवहार के निषेधपूर्वक निश्चय की स्थापना करते हुए स्पष्टरूप से कह दिया गया है कि निश्चय से तो शरीर के गुण, आत्मा के गुण हो ही नहीं सकते। अतः निश्चय से शरीर के आधार पर की गई स्तुति, तीर्थंकर केवली की स्तुति नहीं है। हाँ! इतना अवश्य है कि देह के आधार पर की गई स्तुति उपचार है, व्यवहार है व उसके आधार पर देह और आत्मा के एक मानने की बात करना नय संबंधी अज्ञान है, हमारा नयों से अपरिचय ही है। अतः हमें नयों की सही जानकारी आवश्यक है।

इसके पश्चात् 31वीं, 32वीं और 33वीं तीन गाथाओं में निश्चयस्तुति का स्वरूप बताया गया है। •

5. क्या शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति है आनंद?

शारीरिक आवश्यकतायें – भूख – प्यास आदि की वेदना में दुःख और पूर्ति पर प्रसन्नता का तो हमें अनादि से अभ्यास है। पेड़–पौधे , पशु–पक्षी आदि सभी प्राणी यह महसूस करते हैं, और वही संस्कार पैदा हुए बच्चों में साल– दो साल तक रहते हैं। ज्यों– ज्यों वह बड़ा होता जाता है; त्यों –त्यों खुश रहने की परिभाषाएं बदलने लगती हैं । कभी वह टॉफी, चॉकलेट में खुश हो जाता है ; तो कभी मनपसंद खिलौने की प्राप्ति पर । इस खुशी की खास बात यह है कि अब वह शरीर की जरूरतों के अतिरिक्त मन की चाहत की पूर्ति में भी खुशी ढूँढ़ने लगा है ।

इस प्रकार जब हमने शिशुओं (किड्स) पर निगाह डाली, तो हमें लगा कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में है आनंद; किंतु जब बड़ों पर नजरें घुमाई, तो पता चला कि मन की संतुष्टि में भी है आनंद!

अब प्रश्न उठता है कि क्या मन की संतुष्टि में आनंद है ? जिसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

गाथा 31

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।31।।

पद विच्छेद – णाण–सहाव+आधियं।

शब्दार्थ – इन्दिये = इन्द्रियों को; जिणित्ता = जीत कर; णाण = ज्ञान; सहाव = स्वभाव; आधियं = अधिक; मुणदि = मानकर (जानकर); आदं = आत्मा; तं = उसको (वे); खलु = निश्चय से; जिदिंदियं = जितेन्द्रिय; ते = वे; भणंति = कहते हैं; जे = जो; णिच्छिदा = निश्चयनय में स्थित; साहू = साधु।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद 'जितेन्द्रिय' नामक पहली निश्चयस्तुति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि–

अर्थ– जो इंद्रियों को जीत कर, ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (भिन्न) आत्मा को जानते हैं, वे जितेन्द्रिय हैं – ऐसा निश्चयनय में स्थित मुनिराज कहते हैं।

व्याख्या– निश्चयस्तुति का विशेष स्वरूप बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि जो द्रव्येन्द्रिय,भावेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के विषयों को जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उसे निश्चय के ज्ञाता मुनिराज 'जितेन्द्रिय' कहते हैं।उक्त गाथा में एक ही बात को दो प्रकार से समझाया गया है–

(1) इंद्रियों को जीतना

(2) आत्मा को अपने मूल स्वभाव से जानना।

वस्तुतः तो आत्मा के मूल स्वभाव को जानना, जानते रहना ही इंद्रियों को जीतना है।

जिसप्रकार जब प्रकाश करते हैं, तो अंधकार दूर हो ही जाता है; उसीप्रकार जब आत्मा में जमे–रमे रहते हैं, तो इंद्रियों पर सहज विजय प्राप्त हो जाती है।

जिसप्रकार प्रकाश के अतिरिक्त अन्य अनेकों उपाय रंचमात्र भी अंधकार दूर करने में समर्थ नहीं है, उसीप्रकार आत्मलीनता के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की विधि बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

जो ज्ञान स्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से भिन्न आत्मा को जानते हैं, वे जितेंद्रिय हैं – अर्थात् जो जीव अन्य सभी द्रव्यों का स्वभाव और अपने स्वभाव की भिन्नता जान लेते हैं और अपने मूल स्वभाव को पहचान कर उसमें जम जाते हैं, रम जाते हैं; वही जितेंद्रिय होते हैं। वे जानते हैं कि जिसप्रकार अन्य द्रव्यों की सत्ता है, वे कभी नष्ट नहीं होते हैं; उसीप्रकार मेरी भी सत्ता है, मैं भी कभी नष्ट नहीं हो सकता हूँ। इसप्रकार यद्यपि कुछ सामान्य गुणों की अपेक्षा मेरी अन्य द्रव्यों से समानता है, तदपि मेरे अपने विशेष गुण हैं, जिनके कारण मैं उन सभी द्रव्यों से भिन्न हूँ। मैं 'ज्ञान स्वभावी हूँ'। मेरा ज्ञान गुण ऐसा गुण है, जो मात्र मुझमें है। अन्य किसी द्रव्य में नहीं। जानने की सामर्थ्य मात्र मुझमें है; अन्य द्रव्यों में नहीं– यही विशेषता मुझे उन सभी से भिन्न करती है।

इसप्रकार अपने आप को अपने ज्ञान स्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न जानना, मानना; अपने ज्ञान स्वभाव में जमना – रमना ही इंद्रियों को जीतना है।

जो जीव अपने 'ज्ञान स्वभाव' में ही लीन रहते हैं, वे ही जितेंद्रिय कहलाते हैं।

उक्त गाथा में जिन इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने की बात की गई है, उन्हें तीन प्रकार से समझा जा सकता है - द्रव्य-इन्द्रियाँ, भाव-इन्द्रियाँ और इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ।

शरीर परिणाम को प्राप्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण को **द्रव्येन्द्रियाँ** कहते हैं। शरीर जड़ परमाणुओं का स्कंध है और पाँचों इन्द्रियाँ जड़ शरीर के परिणाम (पर्याय) हैं, आत्मा के परिणाम (पर्याय) नहीं हैं; किन्तु सभी संसारी जीव पाँचों इंद्रियों के विषय भोगों में उलझ कर संसार में रचे-पचे- बसे रहते हैं। वे कभी ए.सी. में रहना चाहते हैं, तो कभी हीटर अच्छा लगता है। कभी नमकीन खाना चाहते हैं, तो कभी मीठा। कभी म्यूजिक का शोर-गुल चाहिए, तो कभी नीरव (आवाज रहित) शांति। बस, इसप्रकार दिन-रात पाँचों इंद्रियों के विषयों को भोगने की प्लानिंग में लगे रहते हैं। उपलब्धि पर खुश हो जाते हैं और मन मुताबिक काम न होने पर दुःखी। बस यही है उनकी दिनचर्या, यही है उनके सुख-दुःख।

इसप्रकार संसारी जीव पाँचों इंद्रियों की भोग सामग्री जुटाने और उन्हें भोगने में ही उलझे रहते हैं; किंतु कुछ जीव इन विषयों में न उलझकर इन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से जानने- देखने का काम करने वाली आत्मा के ज्ञानगुण की क्षयोपशमदशा को **भावेन्द्रिय** कहते हैं। भावेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में अलग-अलग व्यापार करके विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं। जैसे- स्पर्श इन्द्रिय का क्षयोपशम स्पर्श को जानता है, रसना इन्द्रिय का क्षयोपशम रस को जानता है, घ्राण इन्द्रिय का क्षयोपशम गंध को जानता है, चक्षु इन्द्रिय का क्षयोपशम रूप को जानता है और कर्ण इन्द्रिय का क्षयोपशम शब्द को जानता है। इसप्रकार भावेन्द्रियाँ अलग-अलग अपने-अपने विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण

करती हैं और अखण्ड एक ज्ञायक का खण्ड-खण्ड रूप बताती हैं। अतः भावेन्द्रियाँ ज्ञान के खण्ड-खण्ड परिणाम को प्राप्त हैं।

जिसप्रकार द्रव्येन्द्रियों को और आत्मा को एक मानना अज्ञान है; उसीप्रकार ज्ञान को खंड -खंड रूप से बताने वाली भावेन्द्रियों को और ज्ञायक को एक मानना भी अज्ञान है, मिथ्यात्व है। भावेन्द्रियाँ न केवल पर को, अपितु अखंड एक आत्मा को भी खंड -खंड रूप बताती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्येन्द्रियाँ शरीर परिणाम को प्राप्त हैं और भावेन्द्रियाँ ज्ञान के खंड-खंड परिणाम को प्राप्त हैं। अतः जिसप्रकार द्रव्येन्द्रियाँ आत्मा की अपेक्षा परज्ञेय हैं, उसीप्रकार भावेन्द्रियाँ भी आत्मा की अपेक्षा परज्ञेय हैं।

जिसप्रकार शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ परज्ञेय होने पर भी 'वे मैं हूँ' - ऐसी जड़ की पर्याय और चैतन्य की पर्याय में एकत्व बुद्धि संकर दोष है; उसीप्रकार एक-एक विषय को जानने की योग्यता रूप क्षयोपशम भावरूप भावेन्द्रियाँ और अखंड आत्मा में एकत्व बुद्धि भी संकर दोष है।

जीव की अखंड, एक ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही एकत्व की प्रतीति ही भावेन्द्रियों को जीतना है, संकर दोष का परिहार है।

हमारी वर्तमान ज्ञान की पर्याय जब पर की ओर झुकती है तो मिथ्यात्व होता है और अपनी वर्तमान ज्ञान की पर्याय के अंतर्मुखी होते ही पर्याय का विषय अखंड आत्मा हो जाता है (करना नहीं पड़ता)। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि हमारी वर्तमान पर्याय जो बाहर की ओर जाती थी, वह ज्यों ही अंतर्मुखी होती है, त्यों ही वह पर्याय स्वयं अखंड में ही एकत्व पा लेती है। इसप्रकार पर्याय के अंतर्मुखी होने पर सामान्य, एक, अखंड ज्ञान स्वभाव में ही एकत्व प्राप्त होता है।

मैं इस अखंड में एकत्व को प्राप्त हो जाऊँ – ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं रहता है। इसप्रकार परज्ञेय से भिन्न स्वज्ञेय जो अखंड एक चैतन्य स्वभाव है, उसकी निर्विकल्प अनुभूति को ही भावेन्द्रियों को जीतना कहा जाता है।

क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियाँ, द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से जिन पदार्थों को जानती हैं, उन पदार्थों को भी इस गाथा में '**इन्द्रिय**' ही कहा गया है; अर्थात् यहाँ इंद्रियों के माध्यम से दिखाई देने वाले देव, शास्त्र, गुरु, स्त्री, पुत्र, मकानादि- सभी पदार्थ 'इंद्रिय' शब्द में शामिल कर लिए गए हैं। यह सभी इंद्रिय के विषय भी परज्ञेय हैं। इनसे मुझे लाभ होता है – ऐसा मानना मिथ्या भ्रान्ति है। चाहे भले ही स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा हों, उनकी वाणी हो या उनका समवशरण हो- वे सभी अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रियाँ हैं, परज्ञेय रूप से जानने लायक हैं और आत्मा जानने वाला है। ऐसा होते हुए भी ज्ञेय-ज्ञायक संबंध की अतिनिकटता के कारण अज्ञानी सोचता है कि मुझे पहले कम ज्ञान था, अब शास्त्र सुनने से नया ज्ञान हुआ – इसलिए मुझे सुनने से ही ज्ञान हुआ है। लेकिन ज्ञानी जानता है कि ज्ञेयाकार रूप ज्ञान की पर्याय ज्ञान का परिणमन है। ज्ञेय का नहीं, ज्ञेय के कारण भी नहीं। वस्तुतः तो उस काल में ज्ञान की उस पर्याय की उसप्रकार के ज्ञेय को जानने की स्वयं की योग्यता थी, इसलिए ज्ञान स्वयं से हुआ है, वाणी के कारण नहीं। वाणी या राग का भी संग नहीं – ऐसा आत्मा का असंग स्वभाव है। असंगपने रूप से अनुभव में आते हुए उस चैतन्य स्वभाव के द्वारा परज्ञेय सर्वथा पृथक् किए जाते हैं।

अज्ञानी जीव उक्त द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इंद्रियों के विषयभूत पदार्थों को आत्मा जानता रहा है, अपनापन स्थापित करता रहा है। यही इसकी इंद्रिय -आधीनता है। ज्ञान स्वभावी आत्मा इन सभी इंद्रियों से अत्यंत भिन्न है – ऐसा अनुभवपूर्वक जानना ही इंद्रियों को

जीतना है। वस्तुतः सभी इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं ही, परंतु जब भेदज्ञान द्वारा उनसे भिन्नता जानी जाती है, तब इन्द्रियों को भिन्न किया- ऐसा कहा जाता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि सामान्यतः लोग पंचेंद्रियों के भोगों के त्याग को ही इंद्रियों का जीतना मानते हैं। जैसे- सर्दी-गर्मी सहना, एकासन- उपवास करना आदि। अतः जितेन्द्रिय बनने के लिए उन्हें (विषय भोगों को) छोड़ने का प्रयत्न करते हैं, पर वे यह नहीं जानते हैं कि वस्तुतः तो इंद्रियों से भिन्न ज्ञानस्वभावी निजात्मा को आत्मानुभूतिपूर्वक प्राप्त करना ही इंद्रियों को जीतना है।

संक्षेप में कहें तो जो तीनों इंद्रियों को जीतता है, उसे **जितेंद्रिय जिन** कहते हैं और इंद्रियों को जीतना ही **प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति** है।

उक्त निश्चयस्तुति ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष के परिहार पूर्वक ही होती है।

ज्ञायक माने जानने-देखने वाला आत्मा और ज्ञेय माने जानने में आने वाला पदार्थ। ज्ञेय दो प्रकार के हो सकते हैं- निजज्ञेय (स्वज्ञेय) और परज्ञेय।

निजज्ञेय तो आत्मा स्वयं ही है और शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ, खण्ड-खण्ड ज्ञान रूप भावेन्द्रियाँ व इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ – कुटुंब, परिवार, देव- शास्त्र -गुरु आदि सभी परज्ञेय हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस गाथा में इंद्रियों के विषयभूत पदार्थों के समान ही आँख, कान आदि द्रव्येन्द्रियों और क्षयोपशम ज्ञानरूप भावेन्द्रियों को भी ज्ञेय ही कहा है और उन्हें 'परज्ञेय' में सम्मिलित किया है।

इंद्रियाँ ऐसा ज्ञेय हैं, जिन्हें ज्ञायक मान लिया जाता है। अतः इंद्रियाँरूप ज्ञेय को ज्ञायक मानना ही ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है। इसलिए ही इस गाथा में कहा गया है कि जो इंद्रियों को जीत कर अपने आत्मा को अन्य द्रव्यरूप परज्ञेयों से भिन्न जानते हैं, वे 'जितेन्द्रिय जिन' हैं।

चूँकि आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है,अतः वह स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। इसलिए आत्मा ज्ञायक के साथ-साथ ज्ञेय भी है अर्थात् आत्मा जानता भी है और जानने में भी आता है। स्वज्ञेय से तो आत्मा अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है; किंतु परज्ञेयों से आत्मा भिन्न ही है। आत्मा जानने वाला है और परज्ञेय (परपदार्थ) आत्मा से भिन्न हैं, पर अज्ञानी जीव विषयों की आसक्ति और निमित्तों की रूचि से उन्हें भिन्न-भिन्न न जानकर दोनों को एक ही मान लेता है; अर्थात् परज्ञेयों को ज्ञायक मान लेता है। जीव का यह मानना ही ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है।

ज्ञायक स्वभावी आत्मा इन सभी से भिन्न है - यह न जानकर इंद्रियों को ज्ञायक जानना और इंद्रियों के विषयों को ज्ञेय जानना तथा ज्ञायक आत्मा को जानना ही नहीं - यह पहले प्रकार का ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है।

दूसरे ज्ञायक आत्मा और सभी प्रकार की इंद्रियों को एकमेक मानना, इनमें कोई भेद नहीं कर पाना भी ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है।

सभी प्रकार की इंद्रियों को ज्ञेय जानकर ज्ञायक आत्मा को उन से भिन्न जानना, मानना, अनुभव करना ही ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष का परिहार है।

ज्ञान समस्त परज्ञेयों को जानता हुआ भी परज्ञेयरूप नहीं होता। अतः ज्ञान स्वभाव समस्त लोकालोक को जानता हुआ भी उसरूप नहीं होता। उससे भिन्न ही रहता है।

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि आत्मा लोकालोक के अस्तित्व के कारण लोकालोक को नहीं जानता, अपितु उसमें स्वयं में ऐसी शक्ति व सामर्थ्य है। आत्मा में विद्यमान भावशक्ति के कारण ज्ञान गुण का विकार रहित जो निर्मल परिणमन होता है, उसमें समस्त विश्व जानने में आता है, तथापि ज्ञान की पर्याय विश्वरूप नहीं होती। जैसे-केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानते हुए भी ज्ञेयरूप नहीं होती और ज्ञेय भी ज्ञान की पर्यायरूप नहीं होते।

केवलज्ञान के समान श्रुतज्ञान की पर्याय भी विश्व को जानती है, तथापि विश्व से भिन्न रहती है। श्रुतज्ञान की पर्याय भले ही परोक्षरूप से जाने, तथापि जानने में कोई वस्तु बाकी नहीं रहती। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में मात्र प्रत्यक्ष - परोक्ष का ही अंतर है, दूसरा कोई अंतर नहीं है।

संक्षेप में कहें तो ज्ञान चाहे केवलज्ञानी का हो या अल्पज्ञानी श्रुतज्ञानी का, उसका स्वभाव तो ज्ञेय में गये (प्रवेश किए) बिना ज्ञेयों को जानने का है, इसलिए समस्त परज्ञेय ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान स्वभाव समस्त विश्व को जानने में समर्थ होते हुए भी उनसे भिन्न रहता है। ऐसा जानना-मानना-अनुभव करना ही ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष का परिहार है।

इसमें श्रद्धा संबंधी दोष निकल जाता है, मिथ्यात्व चला जाता है; सम्यग्दर्शन हो जाता है। अत: यह स्तुति सम्यग्दृष्टि के ही होती है।

यही प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति है, इसे ही जघन्य स्तुति भी कहते हैं।

निश्चयस्तुति विकल्पात्मक नहीं होती, इसीलिए निर्विकल्प आत्मानुभूति को ही निश्चयस्तुति कहा गया है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि यह तो सम्यग्दर्शन होने की विधि है। इससे तीर्थंकर भगवान की स्तुति कैसे हो गई? जबकि इसी समयसार में 29वीं गाथा में आचार्यदेव ने स्वयं केवली के आत्माश्रित गुणों की स्तुति को निश्चयस्तुति कहा है।

उक्त शंका का समाधान यह है कि उस गाथा में भी आत्माश्रित गुणों की निश्चयस्तुति से तात्पर्य आत्मलीनता से ही है; क्योंकि निश्चयस्तुति तो उसे ही कहते हैं।

जिसप्रकार शरीर के गुणों के आधार पर की गई स्तुति व्यवहारस्तुति है; उसी प्रकार आत्मा के गुणों के कथनपूर्वक की गई स्तुति भी व्यवहारस्तुति ही है। दोनों कथनों में मात्र अंतर इतना ही है कि देह के आधार पर किए गए कथन असद्भूतव्यवहारनय के कथन हैं और गुणभेद के आधार पर किए गए कथन सद्भूतव्यवहारनय के कथन हैं। अतः वचनात्मक स्तुति चाहे देह के आधार पर हो या चाहे आत्मा के गुणों के आधार पर- दोनों ही व्यवहारस्तुति ही हैं, निश्चयस्तुति नहीं। निश्चय से तो निज आत्मा का अनुभव ही सच्ची स्तुति है।

संक्षेप में कहें तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयभूत पदार्थों से भिन्न ज्ञायक भावरूप निज भगवान आत्मा का अनुभव करना ही इंद्रियों को जीतना है, जितेंद्रियपना है।

द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके माध्यम से जानने में आने वाले पदार्थ ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञायक है। ज्ञायक आत्मा उक्त ज्ञेयों से भिन्न है – यह जानकर निज आत्मा में एकत्व करना ही ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष का परिहार है।

इसप्रकार की निर्विकल्प आत्मानुभूति ही प्रथम प्रकार की जघन्य निश्चयस्तुति है।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से भिन्न ज्ञानानंद स्वभावी शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले चौथे से सातवें गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीव ऐसी परमार्थ स्तुति करते हैं।

अंत में आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि यह सब कथन अपने स्वरूप में लीन रहने वाले, निश्चयनय में स्थित होने वाले मुनिराजों के कथन हैं। उनकी बात ही मैं आपको बता रहा हूँ।

इसके पश्चात् 32वीं गाथा में द्वितीय प्रकार की मध्यम निश्चयस्तुति का स्वरूप बताया गया है।

6. क्या मन की संतुष्टि है आनंद?

हा! हा! हा! हा! यह भी कोई विचार का विषय है क्या? अरे भाई! मन की संतुष्टि अर्थात् इच्छाओं, चाहतों, कामनाओं की पूर्ति। बच्चा हो या, युवा हो या वृद्ध, सभी खुश होते हैं चाहतों की पूर्ति पर। हाँ ! यह सत्य है कि मन की संतुष्टि होने पर हमें कुछ पल मिल जाते हैं खुशी के; किंतु वे पल स्थाई नहीं, हमेशा रहते नहीं; क्योंकि हमारी चाहतों का अंत नहीं। चाहतों के भंडार हैं हम। हमारी सबकी, सभी उम्र के जनों की सारी चाहतें तो पूरी हो सकती नहीं। अतः हमें तृप्ति नहीं मिलती, संतुष्टि नहीं मिलती और हम दुःखी बने रहते हैं। इसलिए यदि मन की संतुष्टि में आनंद मानेगें तो हम सभी पूर्ण संतुष्ट हो ही नहीं सकेंगे। तो क्या मीठी वाणी में, मधुर वचनों में है आनंद? जिसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

गाथा 32

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ।।32।।

पद विच्छेद – णाण-सहाव+आधियं, परमट्ठ-वियाणया।

शब्दार्थ – जो - जो (मुनि); मोहं = मोह को; जिणित्ता = जीत कर; णाणसहावाधियं = ज्ञान स्वभाव से अधिक; मुणदि = मानता, जानता है; आदं = आत्मा को; तं साहुं = उस मुनि को; जिदमोहं = जितमोह; परमट्ठवियाणया = परमार्थ के जानने वाले; बेंति = कहते हैं।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद 'जितमोह' नामक द्वितीय निश्चयस्तुति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि-

अर्थ – जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य के भावों से अधिक जानता है, भिन्न जानता है; उस मुनि को परमार्थ निश्चयनय के जानने वाले 'जितमोह' कहते हैं।

व्याख्या – निश्चयस्तुति को बतलाते हुए इस गाथा में कहा गया है कि जो मुनि उदय में आए हुए चारित्रमोह को भी आत्मानुभव से जीतकर शुद्ध ज्ञानगुण से परिपूर्ण आत्मा को भिन्न जानता है, उस मुनि को निश्चयनय के ज्ञाता 'जितमोह' कहते हैं। यहाँ उपशमश्रेणी की अपेक्षा है।

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का निमित्त पाकर संसारी जीव राग-द्वेष रूप परिणमित होते हैं। अतः उदय में आए हुए चारित्रमोहनीय कर्म को यहाँ भावक (भाव करने वाला) कहा है और उससे राग-द्वेषरूप विकार के होने को 'भाव्य' कहा है।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सत्ता में पड़े हुए मोहनीयकर्म 'भावक' नहीं है और न ही सामान्य राग-द्वेष 'भाव्य' हैं। उदय में आए

हुए मोहनीयकर्म ही 'भावक' हैं और परिणमित होते हुए राग-द्वेष ही 'भाव्य' हैं। अकेले राग- द्वेष तो 'भाव' हैं, 'भाव्य' नहीं। ये भाव्य-भावक शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, अतः सापेक्ष हैं। इन राग-द्वेषरूप भाव्य और भावकरूप द्रव्यकर्म दोनों का शुद्ध आत्मा के साथ एकत्व होना ही भाव्य - भावक संकरदोष है। इस दोष को आत्मानुभूति के बल से, ज्ञान स्वभाव के आश्रय से भावकरूप द्रव्यमोह को और भाव्यरूप भावमोह को उपशमित कर देना ही भाव्य-भावक दोष का परिहार है, मोह को जीतना है, जितमोहपना है। दूसरे प्रकार की मध्यम निश्चयस्तुति है।

चूँकि आत्मानुभवी मुनिराज के दर्शनमोह तो है ही नहीं, अतः यहाँ मोह से तात्पर्य 'चारित्र मोह' ही लेना चाहिए। मोह को जीतने के साथ-साथ क्रोधादि चारों कषायें, हास्यादि नोकषायें, द्रव्यकर्म, नोकर्म, मन-वचन-काय इन सब को भी जीता जाता है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचंद्रदेव इस गाथा की टीका में कहते हैं कि- इन गाथाओं में जहाँ-जहाँ 'मोह' पद का प्रयोग हुआ है, उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय और पाँच इंद्रियों को 'मोह' पद के स्थान पर रखकर 16-16 गाथाएँ बनाकर विस्तार से समझना चाहिए।

हम इसे राग पर निम्न प्रकार घटाएंगे - जो मुनि 'राग' को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न जानता है, मानता है- उस मुनि को निश्चयनय के जानने वाले 'जितराग' कहते हैं। जब आत्मानुभूति के बल से, कर्मोदय की ओर का झुकाव छूटकर पर से पृथकता हो जाती है और उससे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, वीतरागी परिणाम प्रगट होते हैं, उसे ही राग-द्वेष का जीतना कहते हैं।

राग-द्वेष का जीतना ही कषायों का जीतना है; क्योंकि क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि-चारित्र मोह के उदयानुसार राग-द्वेष कषायें उत्पन्न होने के पश्चात् उन्हें जीतकर नहीं छोड़ना है; अपितु राग-द्वेष कषाय भावों को अपने में, आत्मा में उत्पन्न नहीं होने देना ही राग-द्वेष और कषायों को जीतना है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो सत्ता में मोह कर्म है, वह जिस समय फल देने की सामर्थ्य से उदय में आता है, उसी समय ज्ञान की पर्याय में उसका अनुसरण करके अस्थिरता रूप भाव्य दशा होने की योग्यता भी है। इसलिए भावक मोह के उदय के काल में, उसके अनुसार जो प्रवृत्ति हुई उसे भाव्य कहा जाता है। यह भाव्य-भावक संकर दोष है।

जब जीव भेदविज्ञान के बल से निज स्वभाव के विशेष आश्रय से भावक मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करता, तब भाव्य-भावक की एकता नहीं होती। जो विकारी भाव होता था, वह नहीं हुआ; यही उसका जीतना है, **भाव्य-भावक संकर दोष का परिहार है, जितमोहपना है; दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति है।**

इसके पश्चात् 33वीं गाथा में तृतीय उत्कृष्ट निश्चयस्तुति का स्वरूप बताया गया है।

●

7. क्या मधुर वचन है आनंद?

मीठी वाणी ! वाह !! क्या कहने मीठी वाणी के? बच्चे से बूढ़े तक-सभी दास हैं इसके। जब बच्चे भी प्यार की और डांट की भाषा पहचानते हैं, तो फिर बड़ों का तो कहना ही क्या है? हर वर्ग को अच्छी लगती है वचनों की मिठास - इसमें दो मत नहीं; पर यदि हम मात्र वाणी में ही आनंद मान लेंगे, तो फिर जो बोल नहीं सकते अथवा मौन रहते हैं, वे तो इस आंनद से वंचित ही रह जायेंगे। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपनी दैनिक आवश्यकताओं कि पूर्ति में सभी को ख़ुशी मिलती है? तो क्या दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में है आनंद? यह अगली कड़ी में।

गाथा 33

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।33।।

शब्दार्थ - जिदमोहस्स = मोह को जीत लिया है; दु साहुस्स = ऐसे साधु के; जइया = जब; मोहो खीणो = मोह क्षीण होकर (सत्ता में से नष्ट) हविज्ज = हो; तइया = तब; णिच्छयविदूहिं = निश्चयनय के जानने वाले; खीणमोहो = क्षीणमोह; भण्णदि = कहते हैं; सो = वह।

संदर्भ - इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद 'क्षीणमोह' नामक तृतीय स्तुति का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि-

अर्थ - जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब वह मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो, तब उस साधु को निश्चयनय के जानकार 'क्षीणमोह' कहते हैं ।

व्याख्या - निश्चयस्तुति को बतलाते हुए इस गाथा में कहा गया है कि जो जितमोही मुनि आत्मानुभूति के बल से भावकरूप द्रव्यमोह का और भाव्यरूप भावमोह का क्षय (अभाव) कर देता है, उस मुनि को परमार्थ के जानकार 'क्षीणमोह' कहते हैं। यहाँ क्षपकश्रेणी की अपेक्षा है।

भाव्य-भावक भाव के अभाव पूर्वक होने वाली महास्तुति ही तीसरी उत्कृष्ट स्तुति है।

अपने ज्ञान स्वभाव(स्वरूप सन्मुखता) के अत्यंत उग्र पुरुषार्थ से राग-द्वेषादि सभी भावों का जड़मूल से सत्ता में से नाश कर देना ही भाव्य-भावक भाव का अभाव है, मोह का नाश करना है ; क्षीणमोहपना है।

यहाँ विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि- 'स्वभाव सन्मुखता

के उग्र पुरुषार्थ से कर्मों का नाश होता है'- यह कथन निमित्त की अपेक्षा किया गया कथन है। वास्तव में तो वे कर्म स्वयं नाश होने की योग्यता वाले थे। अतः वे अपने स्वयं की योग्यता से क्षयपने को प्राप्त हुए हैं।

तीनों प्रकार की निश्चयस्तुति साधक भाव है, जो कि चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक ही होती है। प्रथम निश्चयस्तुति चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान के स्वस्थान - अप्रमत्तभाग तक होती है। दूसरी निश्चयस्तुति सभी उपशमश्रेणी (सातवें के सातिशय अप्रमत्तभाग से 11वें गुणस्थान) वालों को होती है और तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति सभी क्षपकश्रेणी (सातवें के सातिशय अप्रमत्तभाग से 12वें गुणस्थान) वालों को होती है। 13वें गुणस्थान में स्तुति नहीं होती, क्योंकि यह गुणस्थान तो स्तुति का फल है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी, वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वर हैं, जिनवर हैं।

सक्षेंप में हम कह सकते है कि निश्चय स्तुति अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक गुणों की शुद्धि की विकास दशा। इन तीनों प्रकार की स्तुतियों में एक क्रमबद्ध विकास है। उस विकास को हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं, देख सकते हैं -

सर्वप्रथम जीव राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, यही **पहली निश्चयस्तुति** है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी सम्यग्दृष्टि के राग के उदय में अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण पर से उपयोग जुड़ता रहता है। जब जीव अपने ज्ञान स्वभाव के आश्रय से राग को दबा देता है, उपशम कर देता है; तब **दूसरी निश्चयस्तुति** हो जाती है। इस स्तुति में स्वभाव सन्मुखता का जो पुरुषार्थ होता है, वह मंद होता है।

जब जीव स्वभाव सन्मुखता का प्रबल पुरुषार्थ करता है, तब पूर्णतः रागादि का नाश करते हुए वह **तीसरी निश्चयस्तुति** करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयस्तुति, निश्चयभक्ति तो मुक्ति का ही कारण है। यही निश्चयभक्ति मुक्ति का कारण कही जाती है। शेष सभी भक्ति पुण्यबंध का कारण होने से व्यवहारभक्ति कही जाती है। अतः देह के आधार पर की गई सभी स्तुति, भक्ति, विकल्पात्मक होने से व्यवहार है। बंध का कारण होने से सच्ची भक्ति नहीं है, निश्चय भक्ति - स्तुति नहीं है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 31वीं, 32 वीं, 33 वीं- इन तीन गाथाओं में निम्न तीन प्रकार की निश्चयस्तुति का वर्णन है -

1. जघन्य निश्चयस्तुति - यह स्तुति जितेंद्रिय जिनरूप है; क्योंकि इन्द्रियों को जीतना ही प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति है। जो इंद्रियों को जीतता है, उसे 'जितेंद्रिय जिन' कहते हैं। सम्यग्दृष्टि 'जितेंद्रिय जिन' हैं। ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष के परिहारपूर्वक होने वाली यह स्तुति दर्शनमोह का क्षय करने वाली है।

2. मध्यम निश्चयस्तुति - यह स्तुति 'जितमोह जिन' रूप है। यह चारित्रमोह का उपशम करने वाली है; अत: यह उपशमश्रेणी वालों को होती है। यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टि की बात नहीं है, चारित्रमोह के उपशम की बात है। यह भाव्य-भावक संकर दोष के परिहार पूर्वक होती है।

3. उत्कृष्ट निश्चयस्तुति - यह स्तुति 'क्षीणमोह जिनरूप' है। यह चारित्रमोह का क्षय करने वाली है, अतः क्षपकश्रेणी वालों के ही होती है। यहाँ केवलज्ञानी की बात नहीं है; अपितु 12वें क्षीणमोह गुणस्थान की बात है। यह भाव्य-भावक भाव के अभाव पूर्वक होती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 26वीं गाथा में अज्ञानी ने तीर्थंकरों की व्यवहारस्तुति के आधार पर जो शंका की थी, उसका आचार्यदेव नय विभाग से समाधान करते हुए कहते हैं कि शरीर और आत्मा को व्यवहारनय से ही एकत्व है, निश्चयनय से नहीं। इसलिए शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति, तीर्थंकरों की स्तुति व्यवहार से ही कही जाती है, निश्चय से नहीं। इसलिए जिनदेव के शरीर के आधार पर की गई स्तुति जिनदेव की स्तुति नहीं हो सकती है। निश्चय से तो चेतन आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है और वही चेतन आत्मा की निश्चयस्तुति है। जिसे 31वीं, 32वीं और 33वीं गाथा में तीन प्रकार (जितेंद्रियजिन, जितमोहजिन, क्षीणमोहजिन) से बताया गया है।

निष्कर्ष तौर पर 26वीं गाथा में अनादि मिथ्यादृष्टि की आत्मा और शरीर, रागादि सभी परद्रव्यों को एक मानने रूप मिथ्या मान्यता को प्रस्तुत किया गया है और बाद की सात गाथाओं में उसकी इस मान्यता का निश्चय-व्यवहार नयों के माध्यम से निराकरण कर राग, देहादि से भिन्न आत्मा का स्वरूप बता कर अनादिकालीन मिथ्या मान्यताओं को दूर किया गया है। इसप्रकार इन गाथाओं का मर्म समझ कर कुछ जीव तत्वज्ञान द्वारा आत्मा का सही स्वरूप जान लेते हैं, पहचान लेते हैं और आचरण में उतारने के इच्छुक हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचंद्र तो पूर्णत: आश्वस्त हैं कि उक्त प्रकार से नयों द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता समझाए जाने पर आत्मरसिकों को अवश्य ही भेदविज्ञान हो जाएगा। इसीप्रकार का भाव व्यक्त करते हुए वे 28वें कलश में कहते हैं कि – 'वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी गुरू द्वारा आत्मा और शरीर के एकत्व के अज्ञान को जड़-मूल से उखाड़ देने पर ऐसा कौन अज्ञानी है, जो बोध को प्राप्त नहीं होगा? यथार्थ वस्तु स्वरूप नहीं समझेगा?'

इसके पश्चात् आने वाली 34 – 35वीं गाथाओं की उत्थानिका से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वे कहते हैं कि अनादि से यह जीव शरीर, राग और आत्मा को एक मानने के कारण अत्यंत अज्ञानी था; पर तत्वज्ञान की ज्योति के प्रभाव से उसका उक्त अज्ञान दूर हो गया और उसने अपने ज्ञाता- दृष्टा स्वभाव को जान लिया, पहचान लिया।

इसप्रकार ज्ञानी हुए जीव अपने ज्ञान को अपने जीवन में उतारना चाहते हैं, कुछ त्याग करना चाहते हैं। अतः वे प्रत्याख्यान की विधि जानना चाहते हैं।

प्रत्याख्यान की उस विधि को ही 34-35वीं दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि कुछ जीवों के लिए यहाँ तक की गाथाएँ भी पड़ाव सिद्ध हो सकती हैं। अतः यह समयसार का **आठवां पड़ाव** है।

8. क्या दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति है आनंद?

आज आप मुझसे सवाल करेंगे, तो मेरा जवाब 'ना' में ही होगा। पर 'हाँ', एक समय था जब मैं दैनिक अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तरसता था और उनकी पूर्ति होने पर खुश हो जाया करता था। आज मेरे पास सब कुछ है, धन-दौलत, संपत्ति, परिवार; पर आनंद न जाने कहाँ खो गया है? जो मिला है उसे बनाए रखने के टेंशन में, न संपत्ति का उपयोग कर पाता हूँ, न परिवार को समय दे पाता हूँ। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट मेरे स्वभाव के अनिवार्य अंग बन गए हैं। हाँ ! टॉप पोजीशन पर पहुंचने का सुकून अवश्य है मुझे; साथ ही है, टॉप पर बने रहने का टेंशन भी!

क्या खुशी के साथ दुःख अनिवार्य है? आज तो यही है मेरा अंतर्द्वंद्व।

गाथा 34

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।।34।।

शब्दार्थ – सव्वे भावे = सर्व पर भावों को; जम्हा = जिससे; परे त्ति = पर हैं; णादूणं = ऐसा जानकर; पच्चक्खाई = प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; तम्हा = उससे; पच्चक्खाणं = प्रत्याख्यान; णाणं = ज्ञान ही है; णियमा = नियम से; मुणेदव्वं = जानना चाहिए, मानना चाहिए।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि–

अर्थ – जिससे जीव अपने आत्मा से भिन्न सभी परपदार्थों को 'पर हैं' ऐसा जानकर त्याग करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियम से जानना चाहिए।

व्याख्या – अपने में अपनापन आने के पश्चात् त्याग करने का इच्छुक ज्ञानी जीव मानो आचार्यदेव से पूँछ रहा है कि– अब आप मुझे प्रत्याख्यान की, ध्यान की विधि भी बताइए। शिष्य के मन में उठने वाली इसी शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव इस गाथा की दूसरी पंक्ति में कह रहे हैं कि – वास्तव में तो स्वद्रव्य को अपना जानना–मानना ही सच्चा प्रत्याख्यान है, त्याग है। अतः ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

प्रथम पंक्ति में अनादिकालीन अज्ञानी जीव की मिथ्या मान्यता दूर होने पर होने वाली प्रवृत्ति को बताते हुए कहा गया है कि जब जीव

अपनी आत्मा में अपनेपन का अनुभव करता है; अपने ज्ञान स्वभाव में ही जमता है, रमता है; तब स्व में स्वपने का अनुभव करते हुए वह परभाव का, पर पदार्थ का ग्रहण नहीं करता है। इसप्रकार अज्ञानी से ज्ञानी हुए जीव का परभावों का ग्रहण न करना ही त्याग है।

सक्षेंप में हम कह सकते हैं कि अपने स्वरूप में स्थिर होना, ज्ञान का ज्ञान में ठहरना निश्चय प्रत्याख्यान है, त्याग है अर्थात् निश्चय प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है।

जब हम किसी वस्तु को 'पर' जानते हैं, तब उसके त्याग की भावना तुरंत पैदा हो जाती है। उस वस्तु के प्रति हेय भावना अविलंब उत्पन्न हो जाती है। यहाँ उसी भावना को ध्यान में रखते हुए 'ज्ञान को ही प्रत्याख्यान' कहा है। यही निश्चय प्रत्याख्यान है। इसी त्याग की चर्चा इस गाथा में की गई है। इसप्रकार इस गाथा में स्वसंवेदनज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा गया है।

ज्ञानी विचारता है कि मैं ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव वाला हूँ। अन्य द्रव्य के निमित्त से होने वाले रागादि विभाव भाव मेरे रूप होने योग्य नहीं है – इसप्रकार स्वभाव और विभाव रूप रागादि को भिन्न जानना ही राग का त्याग है; प्रत्याख्यान है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में स्व को स्वपने अनुभवने के पश्चात् ज्ञानी हुए जीव की स्थिति का सामान्य कथन किया गया है।

इसके पश्चात् 35वीं गाथा में उक्त ज्ञानी जीव की स्थिति का विशेष कथन किया जा रहा है।

•

गाथा 35

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ।।35।।

पद विच्छेद – परदव्वम्+इणं, को–वि।

शब्दार्थ – जह णाम = जैसे लोक में; को–वि = कोई भी; पुरिसो = पुरुष; परदव्वम् = पर वस्तु को; इणं ति = 'यह पर वस्तु है' – ऐसा; जाणिदुं = जानकर; चयदि = त्याग करता है; तह = उसी प्रकार (वैसे ही); सव्वे = सभी; परभावे = पर द्रव्यों के भावों को; णाऊण = जानकर; विमुञ्चदे = छोड़ देता है; णाणी = ज्ञानी।

संदर्भ – 'ज्ञान ही प्रत्याख्यान है' – इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि –

अर्थ – जिसप्रकार संसार में कोई व्यक्ति परवस्तु को 'यह पर वस्तु है'– ऐसा जानकर उसका (परवस्तु का) त्याग करता है; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्य को 'ये परभाव हैं'– ऐसा जान कर छोड़ देते हैं।

व्याख्या – 34वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि अपने में अपनेपन की प्रतीतिरूप स्व –संवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, त्याग है।

जब आचार्यदेव ने यह समझाया तो मानो उनसे किसी शिष्य ने पूँछा कि – गुरुवर! अपने में अपनेपन की प्रतीति तो आत्मानुभूति है, सम्यग्दर्शन है। वह त्याग स्वरूप सम्यक् चारित्र कैसे हो सकता है? मुझे यह बात कुछ समझ नहीं आ रही, अतः आप कृपा कर कोई उदाहरण देकर बताएँ तो मुझे समझने में आसानी रहेगी।

जवाब स्वरूप आचार्यदेव ने कहा कि–

जिसप्रकार इस संसार में भी सज्जनजन एक जगह रखी हुई चप्पलों में से दूसरे की चप्पलों को भ्रमवश जब अपनी समझकर पहन लेते हैं, तब वे उसे तभी तक अपनी मानकर पहने रहते हैं; जब तक उन्हें वस्तुस्थिति का सही ज्ञान नहीं होता है। ज्यों ही पहचान के चिन्हों से उन्हें ज्ञान होता है कि यह मेरी नहीं, त्यों ही उनकी उन चप्पलों में अपनेपन की मान्यता समाप्त हो जाती है और वे उसे शीघ्रातिशीघ्र छोड़ने के, त्याग करने के इच्छुक हो जाते हैं।

उसीप्रकार अनादि से अज्ञानी जिन परद्रव्यों को जानता है, उन स्त्री–पुत्रादि परद्रव्यों और दान–दया आदि परभावों को भ्रमवश अपने मानकर ग्रहण करता है; किंतु ज्ञानी गुरु के बारंबार समझाने पर ज्ञान स्वरूप आत्मा को जानकर जो जीव अपने में अपनेपन की प्रतीति कर लेता है, उसे स्त्री–पुत्रादि समस्त द्रव्यों और दया–दानादि सभी भावों में एकत्व बुद्धि नहीं रहती,परबुद्धि हो जाती है। वह समझ जाता है कि जो वस्तु पृथक् हो जाती है, वह कभी भी अपनी नहीं होती है और जो चीज अपनी होती है, वह कभी जुदा नहीं होती ।

ज्ञान अपना स्वरूप है, वह हमसे कभी जुदा नहीं हो सकता और राग कभी अपना नहीं हो सकता; क्योंकि मेरा और राग का लक्षण भिन्न–भिन्न है। मैं ज्ञान और आनंद स्वरूप हूँ तथा राग तो जड़ता और आकुलता स्वरूप है।

आत्मा का तो एकमात्र ज्ञान ही कार्य है; उसके अतिरिक्त आत्मा न तो कुछ करता है, न कर ही सकता है।

इसप्रकार एक ज्ञानस्वरूप आत्मा के जानने पर 'ज्ञान में ज्ञान ही है, ज्ञान में राग नहीं है' – ऐसा ज्ञान भी हो जाता है।

'मैं एक ज्ञानमात्र भाव ही हूँ'– ऐसा जानने पर यह आत्मा पर

भावों से भिन्न हो जाता है। ज्ञानी को स्वभाव का स्वीकार होते ही रागादि परभाव छूट जाते हैं, इसी को राग छोड़ा - ऐसा कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञानी का जो ज्ञान अस्थिरता के कारण राग से जुड़ता था, वह ज्ञान वहाँ से हटकर अपने ज्ञान स्वभाव में ठहर जाता है, स्वरूप में एकाग्र हो जाता है। स्वरूप में एकाग्र होने पर परभावों का आश्रय मिट जाता है, परभाव छूट जाते हैं - इसी को ध्यान कहते हैं, चारित्र कहते हैं, प्रत्याख्यान कहते हैं।

संक्षेप में कहें तो आत्मा को जानना ज्ञान है और आत्मा को ही लगातार जानते रहना ध्यान है,त्याग है, प्रत्याख्यान है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपने ज्ञान स्वभाव की स्थिरता में वृद्धि होने पर प्रत्याख्यान होता है, त्याग होता है।

34वीं /35वीं गाथाओं में जिस स्वसंवेदन ज्ञान को प्रत्याख्यान कहा था, उसी को 36वीं गाथा में निर्मम कहा जा रहा है।

•

9. क्या खुशी के साथ अनिवार्य है दु:ख?

आज जब मैंने अपने जीवन पर दृष्टि डाली, तो मुझे आभास हुआ कि जब -जब भी मुझे कोई खुशी मिली है; वह अकेली नहीं आई ।अपने साथ दु:ख अवश्य लाई। जैसे- पेट भर मनपसंद खाने की खुशी मिली तो अनेक बीमारियों का दु:ख भी हुआ । आराम करने का सुख मिला, तो वजन बढ़ने का दु:ख भी हुआ । दामाद अच्छा मिलने की खुशी हुई, तो बेटी की विदाई का दु:ख भी हुआ। क्या-क्या गिनाऊँ , आप सभी तो भुक्तभोगी हैं। ऐसे 10-20 उदाहरण आपके पास भी होंगे ही। अब प्रश्न उठता है, क्या मृग मरीचिका है आनंद?

गाथा 36

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ।।36।।

पद विच्छेद - अहम्+एक्को, मोह-णिम्ममत्तं।

शब्दार्थ - समयस्स = सिद्धान्त और स्व-पर स्वरूप के; वियाणया = जानकार; बेंति = कहते हैं; मोहो = मोह; मम = मेरा; को वि = कुछ भी; णत्थि = नहीं है; अहम् = मैं; एक्को = एक; उवओग एव = उपयोगमय ही; बुज्झदि = जानते हैं; तं = ऐसा; मोह = मोह से; णिम्ममत्तं = निर्मम है।

संदर्भ - इस गाथा में सभी परभावों से भेदविज्ञान कराते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि -

अर्थ - स्वपर और सिद्धांत के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि 'मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ।'- ऐसा जो जानता है, वह मोह से निर्मम है।

व्याख्या - वही शिष्य विनयपूर्वक जिज्ञासा भाव से मानो पुनः पूँछता है कि इस आत्मा की अनुभूति से मोहादि परभाव (भावकभाव) का भेदज्ञान किस प्रकार हुआ ?

शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव इस गाथा में मोहकर्म के उदयरूप भाव से भेदज्ञान कराते हैं।

34वीं और 35वीं गाथा में जिस स्वसंवेदन ज्ञान (आत्मानुभूति) को प्रत्याख्यान कहा था, परभाव (मोहभाव) का भेदविज्ञान भी उसी से होता है। उसे ही इस गाथा में मोह से निर्मम बताते हुए कहा गया है कि- मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला चेतनतत्व हूँ, आत्मा हूँ।

मैं जानने- देखने रूप ही परिणमन कर सकता हूँ। मोहादि भाव मेरे कुछ भी नहीं हैं। शक्तिरूप से तो मैं ज्ञान स्वभावी ही हूँ और मेरी व्यक्तता, प्रगटता व विकास भी ज्ञान- दर्शन उपयोग स्वरूप ही होता है। अतः पर्याय में भी विकार न हो, ऐसा मेरा स्वरूप है। मैं तो निर्मोही आत्मा हूँ।

वस्तुत: मोह, रागादि मुझमें है ही नहीं, मैं और मोहादि मिलकर एक भी नहीं है, किंतु मैं तो मोह-रागादि से अत्यंत भिन्न चैतन्य शक्ति मात्र, ज्ञान-दर्शन मात्र हूँ।

जिसप्रकार श्रीखंड में दही की खटास और चीनी की मिठास एक क्षेत्र में रहकर भी पूर्णतया भिन्न हैं, उसी प्रकार अनाकुल आनंदरूप आत्मा और आकुल-व्याकुल दुःखरूप मोहादि एक क्षेत्र में रहकर भी पूर्णतया भिन्न हैं।

संक्षेप में कहें तो राग का स्वाद दुःखरूप है और आत्मा का स्वाद आनंदमय है। इसप्रकार स्वाद भेद के कारण दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अतः मोह, रागादि और ज्ञायकभाव- इसप्रकार मैं दो रूप नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञायक भाव ज्ञान स्वभावरूप ही हूँ। इसप्रकार जानकर, मानकर जो जीव ज्ञान स्वभाव में ही स्थित हो जाते हैं, उन्हें समय के ज्ञाता पुरुष मोह से 'निर्मम' कहते हैं।

इस गाथा में मोह से तात्पर्य चारित्रमोह से है, क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन के बाद की बात चल रही है। सम्यग्दृष्टि जीव की स्वरूप स्थिरता में वृद्धि होने पर जो प्रत्याख्यान होता है, उसकी चर्चा ही इस गाथा में की जा रही है।

'समय' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे - आत्मा, शास्त्र, सिद्धांत, स्व-पर के भेदों को जानने वाले आदि। चूँकि यहाँ स्व-पर

के विभाग की बात चल रही है, अतः इस गाथा में स्वपर और सिद्धांत के जानकार अर्थ लिया गया है।

इस गाथा में जो मोह की बात की है उसमें पर की ओर के राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी भाव आ जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में मोहादि सभी परभावों के साथ आत्मा के संबंधों का निषेध किया गया है।

इसके पश्चात् 37वीं गाथा में आत्मा को सभी परद्रव्यों से भी निर्मम कहा जा रहा है।

•

10. क्या मृग मरीचिका है आनंद?

आज आपके प्रश्न ने मुझे सोचने को मजबूर कर दिया है। मैं आज तक कभी शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति में, तो कभी मीठे वचनों में, तो कभी मन की जरूरतों की पूर्ति पर ख़ुशी खोजता रहा हूँ। मन, वचन, काय की इन जरूरतों से ऊपर उठा भी हूँ तो कभी बाह्य वस्तुओं में, तो कभी बाह्य प्रवृत्तियों में, क्रियाओं में आनंद ढूंढ़ता रहा हूँ। पर आज समझ आ रहा है कि यदि वस्तुओं कि प्राप्ति और अनुकूल बाह्य प्रवृत्ति में आनंद होता तो मुझे आज आनंद मिलना चाहिए? पर ऐसा तो नहीं हो रहा है। आज भी अनेक प्रश्न उठ रहे हैं मेरे मन में। आजतक जिस ख़ुशी से हम परिचित हैं; क्या वही है आनंद अथवा अभी तक हम आनंद के भ्रम में जी रहे थे?

गाथा 37

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ।।37।।

पद विच्छेद – अहम्+एक्को, धम्म-णिम्ममत्तं।

शब्दार्थ – समयस्स वियाणया = स्व-पर और सिद्धान्त के जानकार; बेंति = कहते हैं; धम्म आदी = धर्म आदि द्रव्य; मम = मेरे; णत्थि = नहीं है; अहम् एक्को = मैं तो एक; उवओग एव = उपयोग मय ही हूँ; बुज्झदि = ऐसा जो जानता है; तं = उसको; धम्मणिम्ममत्तं = धर्म आदि द्रव्यों से निर्मम है।

संदर्भ– इस गाथा में सभी द्रव्यों से भेदविज्ञान कराते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि–

अर्थ – स्व-पर और सिद्धांत के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि यह धर्म-आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं है; मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ– ऐसा जो जानता है, वह धर्म आदि सभी द्रव्यों से निर्मम है।

व्याख्या – इस गाथा में सभी ज्ञेय पदार्थों से निर्मम बताते हुए कहा है कि सभी ज्ञेय पदार्थों से मेरा आत्मा भिन्न है। अपने आत्मा को छोड़कर अन्य सभी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये सभी ज्ञेय पदार्थ हैं। अरहंत, सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी एवं शेष सभी संसारी जीव तथा शास्त्र, मूर्ति, शरीर आदि सभी ज्ञेय ही हैं। इन सभी से मेरा आत्मा भिन्न ही है; क्योंकि मैं ज्ञान स्वभावी हूँ, सभी स्व-पर पदार्थों को जानना मेरा स्वभाव है।

अज्ञानी मानता है कि वस्तुओं के कारण वह वस्तुओं को जानता है; जबकि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव के कारण ही ज्ञेय़ों को जानता है,

ज्ञेयों के कारण नहीं। किसी भी परवस्तु को जानने के लिए उस वस्तु का सामने होना आवश्यक नहीं है।

जिसप्रकार दर्पण में परवस्तु का जो प्रतिबिंब ज्ञात होता है, वह परवस्तु नहीं; दर्पण में वह परवस्तु आई भी नहीं है। दर्पण में जो प्रतिबिंब पड़ा है, वह भी पर के कारण नहीं; किंतु दर्पण की स्वच्छता (छवि झलकाने की शक्ति) के कारण है। परवस्तु मानो दर्पण में आ गई हो – हमें ऐसा मालूम पड़ता है; तथापि वह दर्पण की स्वच्छता की ही दशा है। वह कोई परवस्तु नहीं है तथा सामने परवस्तु है, उसके कारण दर्पण की स्वच्छता की परिणति हुई है– ऐसा भी नहीं है।

उसीप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा का सभी परवस्तु को जानने (ग्रहण करने) का स्वभाव है। अतः जाननेरूप ज्ञान का यह परिणमन ज्ञेय के कारण नहीं होता। वह पर को पर के कारण नहीं जानता है, अपितु अपने स्वभाव के कारण ही जानता है। पर पदार्थ के पास जाए बिना और पर पदार्थ भी पास में आए बिना ही, ज्ञान (आत्मा) का स्वभाव पर को जानने का है। इस जानने का पर के साथ कोई संबंध नहीं है; क्योंकि पर को जानना भी तो आत्मा का स्वयं का ही स्वभाव है। ऐसा होने पर जो परपदार्थ सहज भाव से ज्ञान में ज्ञात होते हैं, अज्ञानी जीव उन्हें अपना मान लेता है, उनमें अपनत्व स्थापित कर लेता है, ममत्व कर लेता है; वह उनसे निर्मम नहीं रह पाता है; किंतु ज्ञानी धर्मात्मा यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह धर्मादि द्रव्यरूप परपदार्थ भले ही ज्ञान में तदाकार होकर डूबे दिख रहे हों; तथापि उनका मुझमें प्रवेश संभव नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पर का अस्तित्व होने पर भी ज्ञान पर के अस्तित्व के कारण नहीं, बल्कि अपने ज्ञान की सत्ता के सामर्थ्य के

कारण अपने में रहकर पर को स्पर्श किए बिना सभी द्रव्यों को जानता है ; स्व–पर को जानता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि स्व और पर दोनों एक समय ही ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं; तथापि दोनों का स्वाद भिन्न–भिन्न है। भिन्न–भिन्न स्वाद के कारण, मैं धर्मादि अजीव द्रव्यों और स्वयं से भिन्न शेष सभी जीव द्रव्यों के प्रति पूर्णत: निर्मम हूँ; क्योंकि मैं अपने में एकत्व को प्राप्त होने से सदा ही ज्यों का त्यों स्थिर रहता हूँ। अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता हूँ। इसप्रकार अपने में अपनापन आना, एकत्व आना और पर में से अपनापन टूटना, एकत्व टूटना ही ज्ञेय भावों से भेदविज्ञान होना है।

संक्षेप में कहें तो स्व–संवेदन ज्ञान के बल से जो अपने ज्ञान स्वरूप में आनंद का अनुभव करता हुआ, समस्त पर द्रव्यों को भिन्न जानता है, उसे समय के ज्ञानी धर्मादि सभी द्रव्यों से निर्मम कहते हैं।

34वीं और 35वीं दो गाथाओं में 'स्व–संवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है' कहा था। ऐसा ज्ञान होने पर दर्शनमोह तो उसी क्षण छूट जाता है; किन्तु चारित्रमोह तो शेष रहता है। 36वीं गाथा में मोह से निर्ममपना बताया गया है, तथा 37वीं गाथा में अपनी आत्मा को छोड़कर समस्त चेतन–अचेतन, (जीव– अजीव) पदार्थों से निर्ममत्व को बताया गया है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इन दो गाथाओं में समस्त परभावों और परद्रव्यों से, भावकभावों और ज्ञेयभावों से भेदविज्ञान कराया गया है।

इसके पश्चात् 38वीं गाथा में समस्त परभावों और परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के स्वरूप को बताया जा रहा है।

•

गाथा 38

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।।38।।

पद विच्छेद – अहम्+एक्को, दंसण–णाणमइयो, सदा+अरूवी।

शब्दार्थ – अहम् = मैं; खलु = निश्चय से; एक्को = एक हूँ; सुद्धो = शुद्ध हूँ; दंसणणाणमइयो = दर्शन–ज्ञानमय हूँ; सदा = हमेशा ही; अरूवी = अरूपी हूँ; अण्णं = अन्य; परमाणुमेत्तं पि = परमाणु मात्र भी, अंश मात्र भी मेरे नहीं हैं; किंचि वि = किंचित् मात्र भी; मज्झ = मेरे; ण वि अत्थि = नहीं हैं।

संदर्भ – इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद ने निर्विकल्प अनुभूति का स्वरूप विकल्पात्मक शब्दों में बताते हुए कहा है कि–

अर्थ – मैं तो निश्चय से सदा ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन–ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ और अन्य सभी परद्रव्य अंश मात्र भी मेरे नहीं हैं।

व्याख्या – इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वप्रथम आत्मानुभूति की दशा को उत्तम पुरुष में बताते हुए कहा है कि –'मैं चैतन्यमात्र[1] ज्योतिरूप आत्मा हूँ और मेरे अनुभव से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ।'

आचार्यदेव कह रहे हैं कि आत्मानुभूति के समय ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही अनुभव में आता है अर्थात् ज्ञान आनन्द सहित अनुभव में आता है– यह बात मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभव से बताता हूँ।

1. आचार्य अमृतचन्द्र ने 'ज्ञानमात्र' के लिए 'चैतन्यमात्र' का प्रयोग किया है और 'एक' व 'दर्शन–ज्ञान' विशेषण में चैतन्यमात्र हेतु देकर उन विशेषणों को स्पष्ट किया है। जैसे – 'चिन्मात्र होने से सामान्य –विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता; इसलिए मैं दर्शन–ज्ञान मय हूँ और चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रम, अक्रम प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता; इसलिए मैं एक हूँ।

उपरोक्त ज्ञान का आनन्द सहित अनुभव **जानने का आनन्द** है, जानने में आनन्द है। ज्ञान में आनन्द का अनुभव है, ज्ञानजन्य अनुभव है यह अनुभव इन्द्रियों की सहायता से रहित होता है; अत: इस आनन्द को **अतीन्द्रिय आनन्द** कहते हैं। यही निराकुल आनन्द होने से वास्तविक आनन्द है। जैसे- जब हम चीनी खाते हैं तो हमें एकमात्र शुद्ध मिठास का ही अनुभव होता है। उस मिठास में आनन्द का अनुभव रसना इन्द्रियजन्य आनन्द है। गाना सुनने में आनन्द कर्ण इन्द्रियजन्य आनन्द है- इसीप्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। पाँचों इन्द्रियजन्य आनन्द आकुलता सहित होने से वास्तविक आनन्द नहीं, आनन्द का आभास है।

मैं ज्ञान-दर्शन वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं एक हूँ, अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं हैं - ऐसा विकल्परूप भेद अनुभूति में नहीं रहता। अनुभूति में तो साक्षात् आनंद के साथ शुद्ध (pure), अखण्ड, एक, अरूपी ज्ञान का आनन्द सहित अनुभव होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त विशेषणों के माध्यम से निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप बताया गया है।

इस गाथा में प्रयुक्त सदा विशेषण अंतदीपक है, अत: इसका प्रयोग आत्मा के सभी विशेषणों के साथ किया जायेगा। जैसे- सदा दर्शनज्ञानमय, सदा चिन्मात्र स्वरूप, सदा एक, सदा शुद्ध, सदा अरूपी।

उक्त सभी विशेषणों को संक्षेप में हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं-

दर्शन-ज्ञानमय-चैतन्य सामान्य को दर्शन कहते हैं और चैतन्य विशेष को ज्ञान कहते हैं। चिन्मात्र होने के कारण मैं सदा दर्शनज्ञानमय ही हूँ।

यद्यपि मेरा स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है, दर्शन-ज्ञानमय है, तथापि 'मैं ज्ञान-दर्शन वाला हूँ' यह भेद भी मैं नहीं हूँ, मैं तो चिन्मात्र होने से सदा दर्शनज्ञानमय हूँ। मैं तो अभेद, अखंड, चैतन्य का पिंड हूँ; पर फिर भी न जाने क्यों? मैं बार-बार इन भेदों में उलझ जाता हूँ। यह सब तो विकल्प जाल हैं। मैं जब तक इनमें उलझा रहूँगा, तब तक अपने ज्ञानानंद स्वभाव का रसपान नहीं कर पाउँगा; क्योंकि अपने में भेद करना तो व्यवहार है। इन भेदों के विकल्प से परे, मैं तो ज्ञानादि गुणों का अखंड पिंड हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, चैतन्य पिण्ड हूँ। इन भेदों से रहित, विकल्पों से रहित, उस निर्विकल्प ज्ञान के आनंद का रसपान मैंने कर लिया है, अतः अब मुझे पुनः इन विकल्पों में नहीं उलझना।

एक-अपने अखंड एक ज्ञान स्वभाव के कारण मैं ज्ञान पर्याय, राग, कषाय, गतियाँ आदि पर्याय के भेदों से भेदा नहीं जाता। अभी तक मैं अपनी बुद्धि के बल पर अपने आपको अल्पज्ञ, विशेषज्ञ, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, मूर्ख, विद्वान आदि जानता-मानता रहा हूँ; जबकि यह तो क्षयोपशम ज्ञान की पर्यायें हैं। मैं मात्र इन रूप तो नहीं। क्षयोपशम ज्ञान के उक्त भेद से भेदे जाने वाला, खंड-खंड किए जाने वाला मैं नहीं।

यहाँ तक कि 'मैं ज्ञान मात्र हूँ' - ऐसे विकल्प से भी भेद रूप नहीं होता हुआ मैं सदा अभेद, एक रूप हूँ।

शुद्ध-नवतत्वों के व्यवहारिक भावों से भिन्न होने से मैं शुद्ध हूँ। भिन्नता तीन प्रकार की है -

(1) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यंत भिन्न है।

(2) पुण्य-पाप के विकारी भावों से आत्मा भिन्न है।

(3) निर्मल पर्याय से भी आत्मा भिन्न है।

पहले प्रकार में स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता, दूसरे प्रकार में विकारभाव व स्वभाव की भिन्नता और तीसरे प्रकार में द्रव्य व पर्याय की भिन्नता बताई है।

पुद्गलमय शरीर आदि परद्रव्य आत्मा को नहीं छूते, अंदर पर्याय में वर्तते (रहते) हुए विकारी भाव भी चैतन्य स्वभाव को नहीं छूते तथा ज्ञान स्वभावी ध्रुव आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई निर्मल पर्याय भी द्रव्य का स्पर्श नहीं करती।

उक्त विकारी व निर्मल पर्यायें द्रव्य में हैं ही नहीं - ऐसा नहीं है। वे पर्याय रूप में हैं, ध्रुव द्रव्य में इन पर्यायों का भेद नहीं है।

मैं आज तक अपने आपको क्रोधी-मानी, दानी-लोभी, मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि आदि विकारी-अविकारी पर्यायरूप मानता रहा हूँ। जबकि मैं मात्र विकारी या निर्मल पर्याय जितना नहीं हूँ, मैं तो सदा शुद्ध, अभेद, चिन्मात्र हूँ।

ज्ञानी ऐसा साक्षात् अनुभव करता है, न कि मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ - ऐसा विकल्प करता है अर्थात् अनुभूति के समय 'मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ' - ऐसे विकल्प का भी निषेध किया गया है।

अरूपी - यह विशेषण समस्त पुद्गलों से भिन्नता बताने वाला है। इसमें 'आदि' शब्द से स्पर्श, रस, गंध भी शामिल कर लेना चाहिए। इस विशेषण के बारे में ज्ञानी विचारता है कि मैं आज तक अपने आपको बाल, युवा, वृद्ध, गोरा-काला, मोटा-पतला, स्त्री-पुरुष आदि विभिन्न रूपों में ही देखता रहा हूँ, जानता रहा हूँ मानता रहा हूँ; जबकि यह सभी तो पुद्गल की पर्यायें हैं और रूप, रस, गंध, स्पर्श तो पुद्गल के गुण हैं। यद्यपि शरीर रूप पुद्गल का मेरे साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध

है। आत्मा संसार अवस्था में शरीर के बिना नहीं रह सकता है; तथापि मुझ में उसके रूपादि गुणों का प्रवेश संभव नहीं। वे अंश मात्र भी मेरे नहीं हो सकते; क्योंकि शरीरादि पुद्गल द्रव्य तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले हैं और मैं तो अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी स्वभाववाला होने से समस्त परद्रव्यों से अत्यंत भिन्न हूँ।

मैं निश्चय से स्पर्शादि रूप परिणमित नहीं होता और वे स्पर्शादि मुझ में नहीं आते। मैं तो मात्र उन्हें जानता हूँ; पर मेरा ज्ञान व स्पर्शादि भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। इसप्रकार मैं पुद्गल के गुण रूपादि को जानते हुए भी उन रूप में परिणमित नहीं होता। अतः मैं निश्चय से सदा ही अरूपी हूँ।

शास्त्रों में निमित्त की अपेक्षा से संसार में उपचार से जीव को रूपी कहा है, पर निश्चय से तो जीव सदा ही अरूपी है।

संक्षेप में कहें तो ज्ञानी विचारता है कि परमाणु मात्र भी परद्रव्य अर्थात् अनंत पुद्गल रजकण, अनंत अन्य आत्माएँ और रागादि भावों का अंश भी मुझे मुझरूप नहीं भासता है। भले ही वे सभी पर पदार्थ मेरे ज्ञान के ज्ञेय बन रहे हों, किन्तु वे मेरे नहीं हैं। 'वे मेरे हैं - मुझे ऐसा नहीं लगता; अतः वे पर पदार्थ किंचित् मात्र भी मुझरूप भासित नहीं होते। इसलिए वे मुझमें मोह उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं।

इसप्रकार विचार करते हुए जब ज्ञान राग को रागरूप व ज्ञान को ज्ञानरूप से यथार्थ जान लेता है; तब जिसका जो असली स्वरूप है, वे अपने उसी स्वरूप से भिन्न-भिन्न होकर रह जाते हैं, ज्ञान ज्ञानरूप से रहता है व राग रागरूप से रहता है। अपने-अपने स्वरूप में दोनों भिन्नपने रहते हैं ।

सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा भिन्नपने का यथार्थ ज्ञान होता है, मिथ्यादृष्टि

इस भेद को नहीं जानते। वे मिथ्यादृष्टि जीव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के राग को अपना मानते हैं और उनके कर्ता बनते हैं। इसप्रकार विकल्पों के कर्ता बनकर वे राग व ज्ञान के भेद को नहीं जानते। जबकि सम्यग्दृष्टि को राग व स्वभाव की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा में जीव की स्वसंचेतन अवस्था को तीन प्रकार के विशेषणों से समझाया गया है–

(i) अनुभूति में आने वाले विशेषण :– इस गाथा में प्रयुक्त 'दर्शन–ज्ञान' विशेषण अनुभूतिगम्य विशेषण है। स्वसंचेतन में, अनुभूति में, अनुभव में ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही आता है।

(ii) अनुभूति का अस्ति (पॉजिटिव) रूप :– इस गाथा में प्रयुक्त 'एक और शुद्ध' विकल्पात्मक अस्तिरूप विशेषणों द्वारा निर्विकल्प स्वरूप को बताया गया है।

(iii) अनुभूति का नास्ति (नेगेटिव) रूप :– इस गाथा में प्रयुक्त 'अरूपी और अन्य परद्रव्य किंचित मात्र भी मेरे नहीं हैं' – कथन द्वारा विकल्पात्मक नास्ति रूप विशेषणों द्वारा निर्विकल्प स्वरूप को बताया गया है।

जिसप्रकार जब हम चीनी की मिठास का आनन्द लेते हैं, उस समय हम किसी अन्य विचार रहित मात्र एक, शुद्ध, अखण्ड मीठेपन का ही आनन्द लेते हैं। उसीप्रकार जब हम अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में मग्न होते हैं तो एक, शुद्ध, अखण्ड ज्ञान स्वरूप में ही आनन्द की अनुभूति करते हैं, अन्य किसी की नहीं।

49वीं गाथा में अरस, अरूपी, अगंध, अशब्द, अव्यक्त आदि सात विशेषण 'नेगेटिव' हैं और चेतना गुण 'पॉजिटिव'।

दोनों गाथाओं में आत्मा के स्वरूप बताने में यह अंतर इसलिए आया कि 49वीं गाथा में अज्ञानी जीव को आत्मा का स्वरूप समझाया जा रहा है; अतः जिन पर पदार्थों में उसको अहं बुद्धि है उन शरीरादि से भिन्नता बताने के लिए अरस, अरूपी आदि विशेषणों का प्रयोग पहले किया, फिर चेतना गुण (ज्ञान –दर्शन) को लिया। इस गाथा में ज्ञानी जीव का अनुभव बताया जा रहा है; अतः वह तो अपने शुद्ध स्वरूप का ही अनुभव करेगा । साथ ही साथ अरूपी कहकर पर पदार्थों से भिन्नता भी बता दी गई है। उपलक्षण से यहाँ 49वीं गाथा के सभी अरस, अव्यक्त, अस्पर्श विशेषण भी समझना चाहिए।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचंद्र तो अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि की अवस्था से लेकर मोह का समूल नाश की सारी विधि बताते हुए कहते हैं कि–अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि मोह से पागल, अत्यंत अप्रतिबुद्ध जीव पाँचों इंद्रियों के विषय भोगों में आनंद मानता था। फिर विरक्त गुरु के द्वारा समझाने पर वह निरंतर उसके चिंतन–मनन में रहने लगा। धीरे–धीरे स्वभाव की धुन ऐसी लगी कि उसका जीवन ही बदल गया; अतः अब वह इंद्रियों के भोगों से विरक्त होकर अतींद्रिय आनंद पाने के प्रति सावधान हुआ; रुचिवन्त हुआ और सोचने लगा कि मैं स्वयं जिस आनंद का खजाना हूँ, उस आनंद की प्राप्ति के लिए अबतक मैं धन–संपत्ति आदि बाह्य विषयों; माता–पिता, स्त्री–पुत्र आदि संबंधों और पंचेंद्रियों के विषयों में दर–दर भटक रहा था, मृग–मरीचिका समान भ्रमित हो रहा था। जिस कुएँ में पानी नहीं था, जो सूखा था; उस कुएँ से मैं पानी निकालने की लालसा में निरंतर प्रयास कर रहा था। मेरा सारा प्रयास व्यर्थ जा रहा था।

इसीप्रकार मैं पंचेंद्रियों के विषय भोगों में सुख ढूंढने का प्रयास

करता रहा, पर उनमें सुख गुण है ही नहीं, आनंद है ही नहीं और मैं तो आनंद का घनपिंड हूँ। अभी तक मैंने अपने ही गुणों को नहीं पहचाना, अपनी ही सामर्थ्य को नहीं पहचाना; अपनी शक्तियों को जाना ही नहीं। पर अब मैंने अपने आनंद का स्वाद चख लिया है, मुझे समझ आ गया है कि मैं तो ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ; जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, जिसमें आत्मा के अतींद्रिय आनंद रस का स्वाद आता है; ऐसे आनंद के वेदन सहित मैं अपने आत्मा को प्रत्यक्ष जानता हूँ।

इसका अनुभव करने में किसी पर का या विकल्प का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो सीधा स्व तथा पर को अपने ज्ञान से ही जानता हूँ।

यह गाथा उपसंहारात्मक गाथा है। दूसरी गाथा में कहा था कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होता है, वह स्वसमय है। उसी स्वसमय में स्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित ज्ञानी जीव आत्मा का कैसा अनुभव करता है? यही इस गाथा में बताया गया है।

यह गाथा जीवों के लिए एक पड़ाव सिद्ध हो सकती है; अत: यह समयसार का **नौंवा पड़ाव** है।

इस गाथा को दोनों ही टीकाकारों ने पड़ाव माना है। दोनों ने ही यहाँ अधिकार विभाजन किया है। आचार्य जयसेन ने जीव-अधिकार व अजीव-अधिकार का स्पष्ट विभाजन करते हुए यहाँ तक ही जीव अधिकार माना है; क्योंकि यहाँ तक जीव का विधि (पॉजिटिव) की मुख्यता से कथन है। इसके पश्चात् जीव का निषेध नेगेटिव की मुख्यता से कथन होने से आचार्य जयसेन ने उसे अजीवअधिकार नाम दिया है।

इसप्रकार गाथा 19 से 38 तक की 20 गाथाओं में हम देखते हैं कि अनादिकालीन अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जब माता-पिता, भाई-

बहन, पति- पत्नी, बंगला, कार, नौकर आदि परपदार्थों में ममत्वबुद्धि करता है; तो ज्ञानी गुरु उसे समझाते हैं कि - हे भव्य! तू जिन परपदार्थों में ममत्वबुद्धि कर रहा है, वे तेरे नहीं, उन्हें तो मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही अपना कहा जाता है। वह वस्तुतः अंशमात्र भी तेरे नहीं।

गुरू के समझाने पर कुछ- कुछ समझता हुआ अज्ञानी विचारता है- गुरुदेव सही कह रहे हैं, यह सब तो स्वार्थ के ही सगे हैं। स्वार्थ समाप्त होते ही सभी अपने पराए हो जाते हैं। एकमात्र अपना शरीर ही जन्म से मरण तक साथ रहता है।

शिष्य के मन का भाव ताड़कर गुरुजी पुनः कहते हैं- पुद्गल से निर्मित शरीर के साथ तेरा एकक्षेत्रावगाह संबंध है। इस निकट संबंध को देखकर तू उनके साथ एकत्वबुद्धि, अपनत्व बुद्धि, अहंबुद्धि करता है, किंतु शरीर तो रूप, रस, गंध, स्पर्श सहित है और तू तो सदा अरूपी है। शरीरादि को तो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही अपना कहा जाता है; किंतु वस्तुतः तो तू अरूपी होने से उनसे सदा भिन्न ही है।

ज्ञानी गुरू के द्वारा बार-बार समझाने पर अज्ञानी जीव को शरीर से भिन्नता तो समझ आ जाती है, किन्तु उसके मन में पुनः भाव उठते हैं कि दया-दान , क्रोधादि भाव तो मुझ में ही उत्पन्न होते हैं। मतिज्ञानादि ज्ञान की पर्यायें भी तो मेरी ही हैं। वे अच्छे- बुरे भाव मेरे ही हैं। मैं ही उनका कर्ता-धर्ता हूँ।

गुरुजी समझाते हुए कहते हैं - हे भव्य! क्रोधादि विकारी भाव दुःख देने वाले हैं। पर के निमित्त से होते हैं। उन्हें तो अशुद्धनयों (अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय और अशुद्ध निश्चयनय) से ही अपना कहा जाता है। आत्मा तो विकारी पर्यायों से रहित होने से सदा ही शुद्ध है।

वस्तुतः तू न तो विकारी पर्यायोंरूप है और न ही अपूर्ण पर्यायोंरूप है। पर्यायें तो उत्पन्न-विध्वंसी हैं, तू तो अनादि से है, अनंत काल तक रहने वाला है। क्षयोपशम ज्ञान से खंडित होने वाला तू नहीं। तू तो ज्ञान का अखंण्ड पिंड होने से सदा 'एक' ही है।

संक्षेप में कहें - तू तो पर और पर्याय में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि आदि सभी प्रकार की बुद्धियों से रहित परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत त्रिकाली अखंड एक शुद्ध चिन्मात्र ज्योतिरूप आत्मा है। विकल्पात्मक ज्ञान में इसप्रकार निर्णय करने के पश्चात् जब जीव अपने ज्ञान स्वरूप से तन्मय हो जाता है, उसमें मग्न हो जाता है, तब उसे ज्ञान के साथ आनंद की अनुभूति होती है, **यही ज्ञानानुभूति है; निर्विकल्प अनुभूति है, आत्मानुभूति** है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्यदेव ने उक्त 20 गाथाओं में **अज्ञानी जीव के ज्ञानी होने तक के सफर का चित्रण** सहजता से किया है।

इसके पश्चात् 39वीं गाथा से 68वीं गाथा तक की 30 गाथाओं में निषेध की मुख्यता से जीव का विशेष कथन किया गया है।

अतःआगामी 30 गाथाओं में अजीव को जीव मानने रूप जीव की भूलों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। इसलिए इस अधिकार में उन अजीव पदार्थों का वर्णन किया गया है, जिन्हें अज्ञानी अज्ञान के कारण जीव मानता आ रहा है।

जिनकी चर्चा लेखिका की अगली कृति 'मीडियम समयसार: भाग 2' में की जाएगी।

•

11. क्या अभी तक हम आनंद के भ्रम में जी रहे थे?

मुझे जीवन में कभी खुशी मिली ही न हो, ऐसी बात नहीं है। पर आनंद के कुछ पलों को तरस रहा हूँ मैं! जिन चीजों की उपलब्धि पर कल तक खुशी मिलती थी, आज वही दु:खकर लगने लगी हैं। जिनका साथ कल तक अच्छा लगता था, आज उनसे दूर जाने का मन करने लगा है। अधिक क्या कहूँ? सारे अनुकूल संयोग आज प्रतिकूल लगने लगे हैं। आज महसूस हो रहा है कि मैं अब तक भ्रम में जी रहा था। तो क्या जिस ख़ुशी में हम आनंद मान रहे थे, वह आनंद का आभास मात्र था ? आज मुझे मेरी गलती समझ आ गई है। मेरी यह भूल क्या थी? यह अगली कड़ी में।

12. मेरी भूल

मेरी एक नहीं, अनेकों भूलें थीं। सर्वप्रथम मैंने अपनी ख़ुशी 'साथ' में ढूँढ़नी चाही। बचपन से माँ -बाप में, फिर भाई -बहन में। ज्यों -ज्यों बड़े होते गए साथ का दायरा बढ़ता गया और ख़ुशी के लिए अधिक पराधीन हो गए। कभी दोस्तों के, तो कभी पत्नी-बच्चों के साथ में।

पत्नी बच्चों के साथ के छोटे-छोटे पलों के लिए तो अपना तन, मन, धन, सभी समर्पित कर दिया। मेरी यह 'साथ' की भावना ही पहली भूल थी यह आज समझ आया। तो फिर कहाँ है ख़ुशी? कहाँ है आनंद? जिसकी चर्चा करेंगे अगली कड़ी में।

13. कहाँ है आनंद?

आज मुझे समझ आ रहा है; पर के साथ में, संयोगों में खुशी मिल सकती है; आनंद नहीं।

वस्तुतः पर में आनंद नहीं, वस्तु में आनंद नहीं, तो मिलेगा कहाँ से? आनंद तो बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु है, जो कि मुझमें ही है। नहीं! नहीं!!मुझमें आनंद नहीं; मैं स्वयं आनंद स्वरूप हूँ, आनंद का घन पिंड हूँ। अब प्रश्न उठता है कि यदि मैं आनंद का पिंड हूँ, अभी तक मुझे मिला क्यों नहीं आनंद? क्या स्वरूप है आनंद का? क्या अंतर है दोनों आनंद में? क्या दु:खरहित आनंद प्राप्त किया जा सकता है? यदि हाँ तो कैसे? कैसे? इन सभी की क्रमशः चर्चा कर आयें हैं हम 'मिनी समयसार' में ।

लेखिका की अन्य कृतियाँ

01. जैन नर्सरी (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
02. जैन के.जी. भाग–1 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
03. जैन के.जी. भाग–2 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
04. जैन के.जी. भाग–3 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
50–06. जैन कलर बुक भाग 1–2 (ड्राइंग बुक)
07–10. जैन जी.के. भाग–1 से 4 तक (हिन्दी, अंग्रेजी)
11–16. जैन जी.के. भाग–5 से 10 तक (हिन्दी)
17–18. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग 1–2
19. सीखें हम गाते–गाते
20. शब्दों की रेल
21–23. आगम प्रवेश भाग–1,2,3
24. मुझमें भी एक दशानन रहता है
25. संस्कार का चमत्कार (दादी की कहानी)
26. बढ़ते कदम
17. राम कहानी
28. विचार के पत्र : विकार के नाम
29. तलाश : सुख की
30. मुक्ति की युक्ति
31. एक संभावना यह भी
32. सत्ता का सुख
33. बालबोध प्रशिक्षण गाईड
34. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड
35. अर्चना गाईड
36. नयचक्र गाईड (अध्यात्म के नय)
37. आगम के नय
38. अनुपम खोज (सप्तभंगी टीका)
39. परीक्षामुख प्रवेशिका (टीका)
40. उपादान निमित्त दोहा (टीका)
41. प्रमाणज्ञान
42. आत्मानुभूति कैसे?
43. जैनदर्शनसार
44. आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (लघु शोध)
45. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबंध)
46. मिनी समयसार
47. समयसार प्रश्नोत्तरमाला भाग–1
48–50. परमागम प्रवेशिका भाग–1, 2, 3/4
51. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
52. मीडियम समयसार : भाग–1

जैन गेम्स

1. नो टाइम पास
2. हमारी लाईफ
3. लगे रहो जीवराज
4. चौबीसी (Poster)
5. Maze to Moksh

E-books

01. मिनी समयसार भाग –1
02. मिनी समयसार भाग –2
03. परमागम प्रवेशिका भाग – 1
04. परमागम प्रवेशिका भाग – 2
05. परमागम प्रवेशिका भाग – 3
06. परमागम प्रवेशिका भाग – 4
07. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
08. समयसार प्रश्नोत्तरमाला : भाग–1
09. मीडियम समयसार : भाग–1